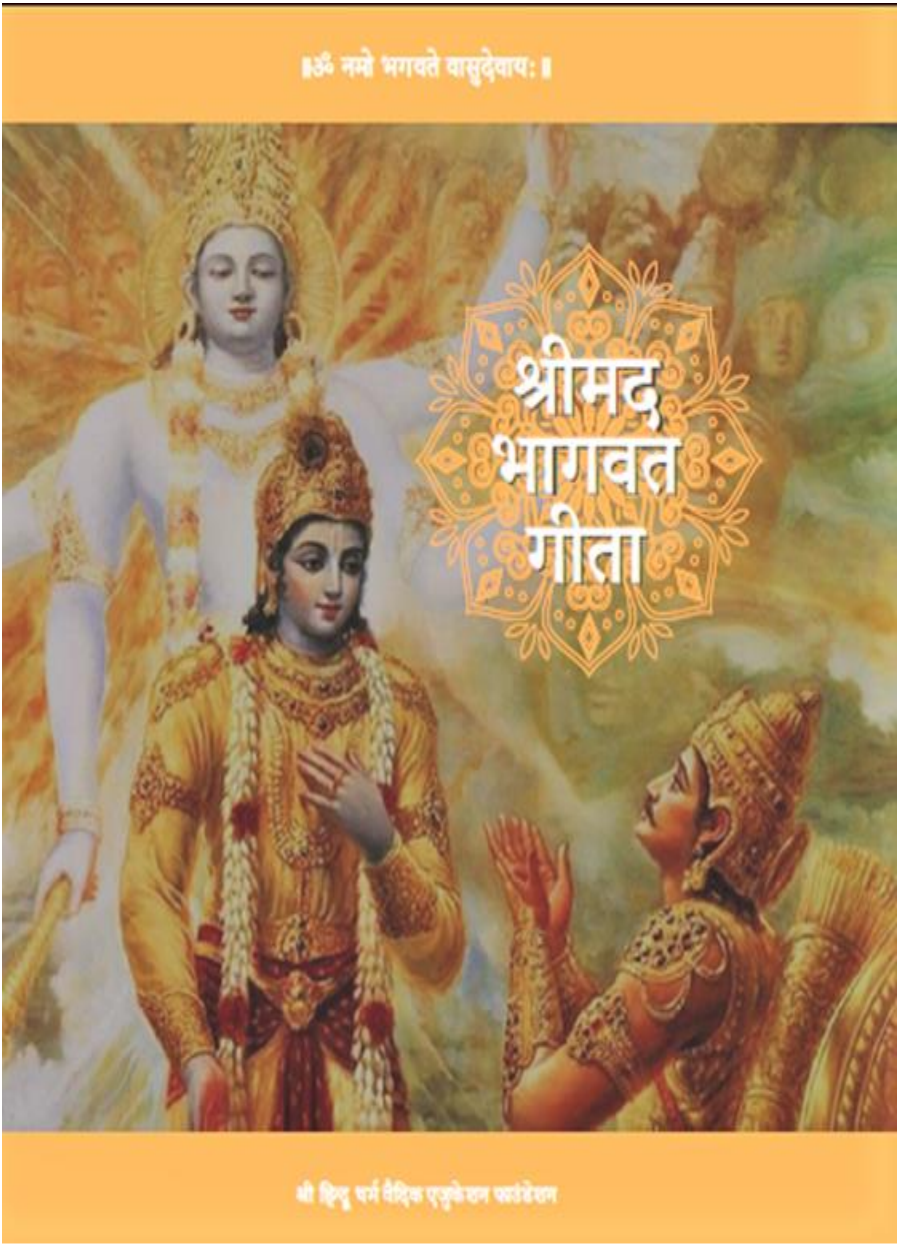
॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥
श्रीमद् भागवत गीता
श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

॥ॐ॥

॥श्री गणेशाय नमः॥

॥ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

श्रीमदभागवत गीता

(संस्कृत श्लोक, पदच्छेद तथा सरलार्थ सहित)

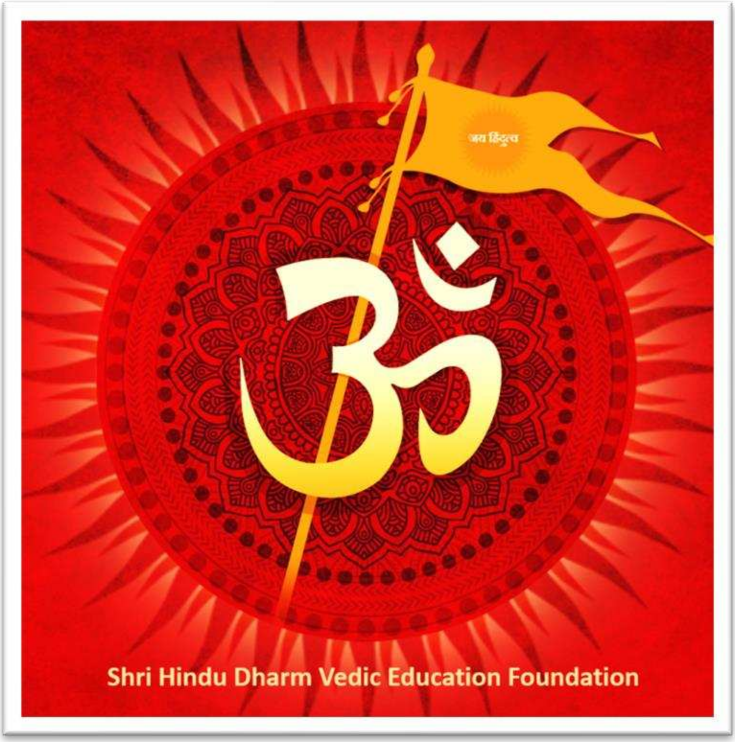

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघ वर्णं शुभांगम्।।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम्।
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्।।

जिनकी आकृति अतिशय शांत है, जो शेषनाग की शैया पर शयन किए हुए हैं, जिनकी नाभि में कमल है, जो देवताओं के भी ईश्वर और संपूर्ण जगत के आधार हैं, जो आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नीलमेघ के समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुंदर जिनके संपूर्ण अंग हैं, जो योगियों द्वारा ध्यान करके प्राप्त किए जाते हैं, जो संपूर्ण लोकों के स्वामी हैं, जो जन्म-मरण रूप भय का नाश करने वाले हैं, ऐसे लक्ष्मीपति, कमलनेत्र भगवान श्रीविष्णु को मैं प्रणाम करता हूँ।

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥

श्रीमदभागवत गीता

संस्कृत श्लोक, पदच्छेद तथा सरलार्थ सहित

श्री प्रभु के चरणकमलों में समर्पित:

श्री मनीष त्यागी
संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

सर्वाधिकार सुरक्षित : श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फॉउण्डेशन

वर्ष : २०२०

विक्रमी संवत २०७७

भाद्रपद कृष्णा अष्टमी

इलेक्ट्रॉनिक कॉपी

प्रकाशक :

मनीष त्यागी
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन,

Web: www.shdvef.com,
Email: info@shdve.com

साभार तथा समर्पण:

श्रीमती सरोज त्यागी
(मुख्य मार्गदर्शिका तथा प्रेरणा सोत्र)

श्रीमती पंकज त्यागी
(अतुलनीय योगदान- हिंदी संशोधन)

श्रीमति हिरनमई
(अतुलनीय योगदान- अंग्रेजी संशोधन)

विषय सूची

संक्षिप्त परिचय - श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन 11
श्रीमदभागवत गीता महातम्य 14
अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाने वाला अमोघ शस्त्र 18
भगवान् श्री कृष्ण के विभिन्न नामों का अर्थ 23
करन्यास एवं अङ्गन्यास 26
अथ गीताधयानम 31
अथ प्रथमो अध्यायः अर्जुनविषादयोगः 35
कौरवों और पांडवों की सेनाओं के प्रधान-प्रधान शूरवीरों की गणना और सामर्थ्य का कथन: 35
दोनों सेनाओं की शंख-ध्वनि 39
अर्जुन द्वारा सेना-निरीक्षण 42
मोह से व्याप्त हुए अर्जुन के कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचन 44
अथ द्वितीयोध्यायः सांख्ययोगः 53
अर्जुन की कायरता के विषय में श्री कृष्णार्जुन-संवाद 53
सांख्ययोग का विषय 57
क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता का निरूपण.............65
कर्मयोग का विषय 68
स्थिरबुद्धि मनुष्य के लक्षण और उसकी महिमा 74
अथ तृतीयोध्यायः कर्मयोगः 83

ज्ञानयोग और कर्मयोग के अनुसार अनासक्त भाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरूपण 83
यज्ञादि कर्मों की आवश्यकता का निरूपण 86
ज्ञानवान और भगवान के लिए भी लोक संग्रहार्थ कर्मों की आवश्यकता 89
अज्ञानी और ज्ञानवान के लक्षण तथा राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करने के लिए प्रेरणा 92
काम के निग्रह का विषय 96
अथ चतुर्थोध्यायः ज्ञानकर्मसंन्यासयोग: 100
सगुण भगवान का प्रभाव और कर्मयोग का विषय 100
फलसहित पृथक-पृथक यज्ञों का कथन 108
ज्ञान की महिमा 113
अथ पञ्चमोध्यायः संन्यासयोगः 117
सांख्ययोगी और कर्मयोगी के लक्षण तथा उनकी महिमा 119
भक्ति सहित ध्यानयोग का वर्णन 127
अथ षष्ठोध्याय: आत्मसंयमयोगः 129
कर्मयोग का विषय और योगारूढ़ पुरुष के लक्षण 129
आत्म-उद्धार के लिए प्रेरणा और भगवत्प्राप्त पुरुष के लक्षण 131
विस्तार से ध्यान योग का विषय 133
मन के निग्रह का विषय 141
योगभ्रष्ट मनुष्य की गति का विषय और ध्यानयोगी की महिमा 143
अथ सप्तमोध्यायः ज्ञानविज्ञानयोगः 148
अथ अष्टमोध्यायः अक्षरब्रह्मयोगः 159

अथ नवमोध्यायः राजविद्याराजगुह्ययोगः 170

अथ दशमोध्यायः विभूतियोगः 183

अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति तथा विभूति और योगशक्ति को कहने के लिए प्रार्थना............ 187

अथ एकादश अध्याय: विश्वरूपदर्शनयोगः............ 198

अथ द्वादशोध्यायः भक्तियोग: 219

साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमता का निर्णय और भगवत्प्राप्ति के उपाय का विषय............ 219

भगवत्-प्राप्त पुरुषों के लक्षण 223

अथ त्रयोदशोध्यायः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः 227

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विषय............ 227

ज्ञानसहित प्रकृति-मनुष्य का विषय 234

अथ चतुर्दशोध्यायः गुणत्रयविभागयोगः............ 241

ज्ञान की महिमा और प्रकृति-मनुष्य से जगत् की उत्पत्ति............ 241

सत्, रज, तम- तीनों गुणों का विषय............ 242

भगवत्प्राप्ति का उपाय और गुणातीत मनुष्य के लक्षण 247

अथ पञ्चदशोध्यायः पुरुषोत्तमयोग 252

संसार वृक्ष का कथन और भगवत्प्राप्ति का उपाय............ 252

जीवात्मा का विषय............ 255

प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरूप का विषय............ 257

क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम का विषय 258

अथ षोडशोध्यायः दैवासुरसंपद्विभागयोगः 261

फलसहित दैवी और आसुरी संपदा का कथन 261
आसुरी संपदा वालों के लक्षण और उनकी अधोगति का कथन 263
शास्त्रविपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्रानुकूल आचरणों के लिए प्रेरणा...268
अथ सप्तदशोध्यायः. श्रद्धात्रयविभागयोगः...271
श्रद्धा का और शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का विषय..................271
आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक-पृथक भेद....................................273
ॐ तत्सत् के प्रयोग की व्याख्या 278
अथाष्टादशोध्यायः मोक्षसंन्यासयोगः...281
त्याग का विषय..281
कर्मों के होने में सांख्यसिद्धांत का कथन...285
ज्ञाननिष्ठा का विषय 297
भक्ति सहित कर्मयोग का विषय...299
श्रीगीताजी का माहात्म्य...303
श्री गीता जी का महातम्य...308
श्री गीता जी की आरती...314
पावन २४ अवतार स्मरण...315

संक्षिप्त परिचय - श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फॉउण्डेशन एक गैर वाणिजियक, धर्मार्थ संस्था है, जिसका गठन वर्त्तमान समय में सनातन धर्म में व्याप्त अज्ञान और त्रुटियों को दूर कर धर्म के विस्तार और विकास के लिए किया गया है।

वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली मे हिंदू धर्म शास्त्रों का कोई महत्त्व नहीं है, आजकल की शिक्षा केवल विद्यार्थियों को आधुनिक शिक्षा दे कर नौकरी और व्यापार के लिए तैयार करने तक ही सीमित है। परिणाम स्वरूप विद्यार्थियों द्वारा अपने आध्यात्मिक विकास का कोई प्रयत्न नही किया जाता और शिक्षा समाप्त करने के पश्च्यात अपने जीवन के संघर्षों में इतना समय नहीं मिलता की वेद, पुराण, गीता, अन्य धर्म शास्त्रों का अध्ययन कर सकें या किसी धार्मिक संस्था से जुड़ सकें। परिणामस्वरूप सनातन धर्मियों में अपने धर्म के आधारभूत ज्ञान के आभाव का लाभ अनेको अधर्मी और विधर्मी उठाते हैं, किसी भी धर्म शास्त्र के एक श्लोक के अर्थ का अनर्थ बना कर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है की हिन्दू सनातन धर्म से निष्कृष्ट और कोई धर्म पृथ्वी पर विद्यमान नहीं है और ज्ञान के आभाव में सनातन धर्मी भी इसी विचारधारा से प्रभावित होकर उनका अनुसरण करते हैं।

वेद अध्यनन तो दूर की बात है यदि स्वयं सनातन धर्मियों को यह भी स्पष्ट नहीं है की हिन्दू धर्म में धर्म शस्त्रों में किन ग्रंथों को सम्मिलित किया जाता है और सनातन धर्म में कितने देवी देवता हैं तो आप समझ सकते हैं की स्थिति कितनी गंभीर और भयावह है। पुण्यभूमि भारत, जहाँ सम्पूर्ण विश्व में हिंदू जनसँख्या सर्वाधिक है, में भी जनसँख्या गणना के आकंड़े स्थिति की भयावता प्रमाणित करते हैं। १९५१ की जनसँख्या गणना के अनुसार भारतवर्ष में हिन्दुओं की

संख्या ८४.१% थी जो की २००१ में केवल ८०.५ रह गयी और २०११ में और घट कर केवल ७९.८० रह गयी अर्थात वर्ष प्रति वर्ष भारतवर्ष में हिन्दू जनसँख्या घटती ही जा रही है। इसमें कोई संदेह नहीं है की सभी सनातन धर्मी इससे चिंतित हैं और चाहते भी हैं की धर्म का विकास तथा विस्तार हो परन्तु प्रश्न यह है की धर्म की रक्षा के लिए क्या उपाय किये जा रहे हैं? अपने धर्म की रक्षा के प्रति प्रत्येक सनातन धर्मी हिंदू का क्या व्यक्तिगत योगदान है ?

इसी योगदान को ध्यान में रखते हुए एक बहुत छोटे प्रयास के रूप में श्रीमद्भागवत गीता के निशुल्क प्रति का प्रकाशन करवा कर वितरण करने पर का विचार किया गया। प्रकाशन से पहले हमने करीब १०,००० सनातन धर्मियों से जो की ३०-४० की उम्र के बीच थे एक जनमत करने के विचार से बात की और पाया की ९६% सनातन धर्मियों ने श्रीमद्भागवत गीता भी नहीं पढ़ी है, अन्य धर्म ग्रन्थ तो बहुत दूर की बात है।

लोककल्याण के लिए हमने श्रीमद्भागवत गीता यथारूप का प्रकाशन हिंदी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओँ में करवा कर इस अमूल्य धरोहर को निशुल्क बांटने का प्रण लिया। हम चाहते हैं की भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु समस्त संसार में प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में श्रीमद्भागवत गीता पहुंचे जिससे प्रत्येक मनुष्य हिन्दू सनातन धर्म की आध्यात्मिक क्षमता तथा उच्च विचार धारा को समझ सकें। सनातन धर्म दर्शन शास्त्र हर मनुष्य को अपने धर्म का पालन करते हुए, सदविचार, समभाव, क्षमा, त्याग, अहिंसा तथा वसुधैव कुटुम्बकम की विचारधारा का पालन कर मोक्ष प्राप्ति के लिय अग्रसर करता है।

सनातन धर्मी इस पवित्र ग्रन्थ को पढ़े तथा धर्म की रक्षा एवं विस्तार में सहयोग दें। सनातन धर्म के प्रचार तथा विस्तार के इस पावन कृत्य में यदि आप भी अर्थदान करना चाहते हैं तो आप हमारी वेबसाइट www.shdvef.com पर

'**Donate**' बटन दबा कर कोई भी धनराशि हमारे बैंक अकाउंट में जमा करवा सकते हैं।

धर्मो रक्षति रक्षितः ।

जो धर्म और धर्म पर चलने वालों की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा अपनी प्रकृति की शक्ति से करता है।

यदि आप ब्रह्म दान द्वारा हमारा सहयोग करना चाहें तो आप अपने विचार या धर्म सम्बंधित कोई भी प्रश्न हमें info@shdve.com पर ईमेल कर सकते हैं।

साभार:

श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

श्रीमदभागवत गीता महातम्य

श्रीमद्भागवत गीता का वर्णन महाभारत के भीष्म पर्व में २५ वें अध्यायसे ४२ वें अध्याय तक है। इसका पूर्व वृतान्त यह है कि युद्धारम्भ से पहले भगवान् वेदव्यास ने राजा धृतराष्ट्र से पूछा 'यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखने की हो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे सकता हूं' । परन्तु आजन्म अंधत्व के कारण धृतराष्ट्र ने केवल अपने वंश का संहार देखने के लिए दिव्य दृष्टि प्राप्त करना उचित न समझा और इसी कारण धर्म का आचरण करने वाले संजय को महर्षि वेदव्यास ने दिव्य शक्तियां प्रदान की जिससे संजय को युद्ध भूमि के सभी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष वृतांत ज्ञात हो गए और संजय युद्धभूमि में घटित सभी घटनाओं का विवरण धृतराष्ट को दे सके।

संजय ने जब भीष्म के आहात होने का समाचार धृतराष्ट्र से जाकर कहा तो राजा धृतराष्ट्र ने प्रारम्भ से समस्त घटनाओं को जानने की इच्छा प्रकट की। इसी पर श्री कृष्णार्जुन सम्वाद को कहते हुए गीता की घटना संजय ने राजा धृतराष्ट्र से कही, जोकि भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उच्चारित यही सात सौ श्लोक हैं। जो गायी जाय या गीत रूप में कही जाय उसे गीता कहते हैं। श्री भगवान् द्वारा गायी हुई अर्थात उच्चारित की गुई यह ब्रह्मविद्या इसीलिए श्रीमद्भागवत गीता कही जाती है।

गीता उपनिषदों का सार है और संस्कृत व्याकरण में उपनिषद् शब्द लिङ्ग माना गया है। इस कारण उपनिषद के विशेषण रूप से गीता शब्द का स्त्रीलिंग में ही व्यवहार हुआ है। गीता की उत्पत्ति के विषय में यह श्लोक प्रचलित है:

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।

अर्थात समस्त उपनिषद गृऊ रूप है, भगवान श्रीकृष्ण उस गऊ के दुहनेवाले हैं, बछड़े रूप से अर्जुन गऊ को दुहाने का कारण है और भक्तगण गीतारूपी अमृत का पान करने वाले हैं।

लौकिक प्रथा यही है की गाय को दुहने के लिए बछड़े को निमित्त बनाया जाता है, इसी प्रकार महाभारत के युद्ध में श्रीभगवान कृष्ण ने “मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्?” हे अर्जुन! मैंने पहले से इन सबको मार रक्खा है। तुम केवल निमित्त मात्र हो ऐसा कहकर यह सिद्ध कर दिया था कि युद्ध में अर्जुन निमित्तमात्र है, ठीक उसी प्रकार गीता उपदेश में भी अर्जुन निमित्तमात्र ही थे। इसी को श्री आदिशंकराचार्य ने गीता के द्वितीयाध्याय के ११ वें श्लोक के भाष्य में 'सर्वलोकानुग्रहार्थ अर्जुनं निमित्तीकृत्याह भगवान् वासुदेवः' (सकल लोक कल्याण के लिये अर्जुन को निमित्त बनाकर श्रीभगवान वासुदेव ने गीता का उपदेश किया था) कह कर गीता का तत्व निर्णय किया है।

वास्तव में थोड़ी विवेचना करने पर भी यह पता लगता है कि केवल अर्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा देने लिए इतनी बड़ी गीता के कहने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं था। बुद्धिमान मनुष्य गीता अध्ययन के बाद यह विचार सकते हैं कि जब दस अध्याय तक गीता का प्रवचन करने पर भी अर्जुन के अन्तःकरण को पूरा समाधान प्राप्त नहीं हुआ और तत्पश्चात् विराट रूप दिखाकर उनके निमित्तरूप होनेका प्रत्यक्ष कराने पर ही समाधान हुआ, तो केवल अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये इतनी बड़ी गीता कहने की कोई भी आवश्यकता नहीं थी। अर्जुन तो केवल एक श्लोक और विराटरूप दर्शन से भी युद्ध में प्रवृत हो सकते थे। आशय यही है की अर्जुन तो केवल निमित्त थे, जगत कल्याण के लक्ष्य से ही समाधिस्थ होकर श्रीभगवान कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था ।

श्रीभगवान को विदित था दुर्दान्त कलियुग निकट है और मेरे पृथ्वी से परागमन के पश्च्यात कराल कलिका भीषण आक्रमण समस्त संसार पर

होगा, लोग कर्म, उपासना, ज्ञान, का पथ छोड़ कर अत्यंत दैन्य दशा को प्राप्त करेंगे, इस भावी विपत्ति से मनुष्यों को बचाकर सत्यपथ प्रदर्शनके लिये कर्म, उपासना, ज्ञान सामजंस्य पूर्ण उपदेश की परम आवश्यकता का दिव्य मधुर करुणामय भाव हृदय में धारण करके ही अर्जुनको निमित्त वनाकर श्रीभगवानने गीताका उपदेश किया था। यही' यथार्थ तत्व है। अतः यह कहना की केवल अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये युद्धभूमि में गीता कही गई है इस कारण गीता में कर्म की प्रधानता और ज्ञान, उपासना की गौणता है, यह विचार युक्तियुक्त नहीं है ।

द्वितीयतः सर्व कर्म संन्यास पूर्वक भिक्षापात्र हाथ में लेकर मोक्ष के लिये जंगल में चले जाने के लिये भी अर्जुन को रणक्षेत्र में गीता नहीं कही जा सकती। क्योंकि अर्जुन तो ममता के वशीभूत होकर गाण्डीव को छोड़ ही चुके थे । उसी कर्मत्याग से प्रोत्साहन श्रीभगवान कैसे दे सकते थे?

जिस अर्जुन ने 'निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः? ऐसा कह कर समस्त विजय श्री लाभ के सम्मुख निर्वाण मोक्ष को भी तुच्छ किया था, उसके प्रति केवल मोक्ष का उपदेश करना व्यर्थ चर्चा मात्र है। इस कारण ऐसा भी सिद्धान्त निर्णय करना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता ।

तृतीयतः सब कुछ छोड़कर देवर्षि नारदकी तरह वीणावादन करते हुए केवल हरिनाम कीर्तन के लिये भी राजच्युत क्षत्रियवीर अर्जुन को गीता का उपदेश शोभा नहीं देता । यदि ऐसा होता तो सब कुछ कहने के बाद अंत में 'तस्माद् युध्यस्व भारत' 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इत्यादि युद्ध प्रेरक वाक्य गीता में नहीं होते।

'वत्स' पार्थ को निमित्त बनाकर श्री भगवान् ने समस्त जगत के कल्याण के लिए गीता का उपदेश किया था और अधिकारानुसार अर्जुनको यही कहा था कि :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददामि यत् ।
यत्तपस्यसि कोन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ।

हे अर्जुन! तुम जो कुछ करो, खाओ, हवन करो, दान, करो या तपस्या करो सभी मुझमें सर्मपण करना।

यही अर्जुन के अधिकारानुसार ईश्वर परायण बुद्धि से कर्मयोग का उपदेश है, जिसके करने से धर्मयुद्ध में विजय लाभ होकर अर्जुन के 'नरावतार' धारण रूपी उद्देश्य भी सार्थक होगा और यथाकाल चित्तशुद्धि द्वारा उपासना तथा ज्ञान लाभ होकर यश भी प्राप्त होगा।

अनंत कोटि ब्रह्माण्ड नायक परब्रह्म स्वरुप जगज्जन श्रीभगवान कृष्ण के सारगर्भित उपदेशों से परिपूर्ण श्रीमद्भागवत गीता को प्रत्येक श्लोक को समस्त मनुष्य जाति आत्मसात कर मनुष्य जीवन के सही अर्थ को समझ कर अपना मनुष्य जीवन सफल बना सकें, यही प्रभु के पावन चरणों में विनीत प्रार्थना है।

श्रीमति सरोज त्यागी
मुख्य संरक्षक एवं पथप्रदर्शिका
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !!!

॥ श्रीमदभागवत गीता ॥

अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाने वाला अमोघ शस्त्र

॥ ॐ श्री हरि शरणम् ॥

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥

गीता पूर्ण ज्ञान की गङ्गा है, गीता अमृतरस की धारा है। गीता इस दुष्कर संसार सागर से पार उतरने के लिये अमोघ तरणी है। गीता भावुक भक्तों के लिये गम्भीर तरङ्गमय भावसमुद्र है। गीता, कर्मयोग परायण मनुष्य को सत्यलोक में ले जाने के लिये दिव्य विमान रूप है । गीता ज्ञानयोगनिष्ठ मनुष्य को जीवन्मुक्त बनाने के लिये अमृत समुद्र रूप है, गीता संसार मरुभूमि में जले हुए दु:खित जीवन के लिये मधुर जल से पूर्ण मरू उद्यान है। जितना भी कहा जाये, शब्दों में गीता की अपूर्व गाथा का वर्णन संभव ही नहीं है। यही कारण है की सहस्त्रों वर्षों में विभिन्न महात्माओं, विद्वानों द्वारा श्रीमद्भागवत गीता की पृथक पृथक व्याख्या करने के बाद भी गीता का सौंदर्य और उपयोगिता वर्ष प्रति वर्ष बढ़ता ही गया है।

जिस वस्तु का कोई निर्दिष्ट आकार नहीं होता है उसे मनुष्य अपने भावों के अनुसार अनेकों आकार में देख सकता है। श्री भगवान निराकार हैं इसी कारण कभी शिव रूप में, कभी विष्णु रूप में या कभी अन्य देवी-देवताओं के रूप में भक्तों के भावानुसार दर्शन देते हैं। उनकी यदि कोई निर्दिष्ट एक ही साकार मूर्ति होती तो ऐसा संभव नहीं था। जिस प्रकार जल का कोई निर्दिष्ट आकार नहीं होता और जिस पात्र में जल को रखा जाता है जल वैसा ही आकार ले लेता है । उसी प्रकार श्रीमद्भागवत गीता के विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये।

श्रीमद्भागवत गीता निराकार है अर्थात् इसका कोई साम्प्रदायिक आकार नहीं है। पाठक के भावों के अनुसार श्रीमद्भागवत गीता का अर्थ प्रतिपादित होता है। इसी कारण से गीता को ज्ञान पन्थी गम्भीर ज्ञानमयी मूर्ति के रूप में देखते हैं। भक्ति पन्थी मधुर मनोहारिणी भक्ति भाव मयी मूर्ति में देखते हैं, कर्मपंथी रणताण्डव में विलीन कर्मयोगमयी मूर्ति में देखते हैं और अध्यात्म पंथी सकल कलि कलुष का विध्वंस करने वाली सनातनी रूप में ही गीता को देखते हैं। श्रीभगवान पूर्ण हैं, इसलिये उनके श्री मुख से उच्चारित गीता भी पूर्ण है, और पूर्ण होने के कारण ही एक-रूप गीता के भक्तो के ह्रदय में अनन्तरूप बन जाते हैं। यही गीता के अनेकार्थ होने का कारण है ।

विचारवान मनुष्यों के लिए यह बात सिद्ध है कि, पूर्ण प्रकृति ही पूर्ण ब्रह्म को प्रकट कर सकती है। अपूर्ण आत्मा की पूर्णता और ब्रह्मभाव प्राप्ति के द्वारा मुक्ति तभी संभव है जब आत्मा प्रकृति पूर्णता को प्राप्त करे । प्रकृति अधिभूत, अधिदैव, आध्यात्म तीन कारकों से युक्त है । मनुष्यों में यह तीनों कारक अधूरे हैं। अत: आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पूर्णता मनुष्यों को प्राप्त होने पर आत्मा (मनुष्य जीव) ब्रह्मरूप बन सकता है।

अतः जिस शास्त्र में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध शुद्धि के लिये उपाय पूर्णतया बताये गये हैं, वही शास्त्र पूर्ण और भगवान का वाक्य है। मनुष्य के लिये आधिभौतिक शरीर है, आधिदैविक मन है और आध्यात्मिक बुद्धि है। शरीर की शुद्धि कर्म के द्वारा, मन की शुद्धि उपासना के द्वारा और बुद्धि की शुद्धि ज्ञान के द्वारा होती है। अतः जिस शास्त्र में समान रूप से कर्म, उपासना और ज्ञान, तीनों के उपदेश की पूर्णता हो वही भगवान् का वाक्य होगा इसमें कोई संशय नहीं है। श्रीमदभागवत गीता भी भगवान् वाक्य होने के कारण पूर्ण हैं और यही गुण वेदों में भी विद्यमान है। वेद अपने संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद रुपी तीन भागों के द्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान का पूर्ण साधन बता कर आत्मा को सच्चिदानन्द परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति का पथ प्रदर्शित करते हैं।

परमात्मा और जीवआत्मा में यही अंतर है की परमात्मा पूर्ण है और जीवआत्मा अपूर्ण। जो शास्त्र जीव आत्मा को पूर्ण बना कर ब्रह्मरूप की ओर अग्रसर करे वही शास्त्र पूर्ण है। मनुष्यकृत शास्त्रों और भगवान् वाक्य शास्त्रों में भी यही अंतर है। जितने भी मनुष्य कृत शास्त्र विश्व में उपलब्ध हैं उनकी विवेचना करने से विचारवान् मनुष्य को ज्ञात होगा की सभी शास्त्र प्रकृति का आंशिक वर्णन करते हैं और इस दृष्टि से अपूर्ण हैं। परन्तु गीता में यह अपूर्णता नहीं है और इसीलिए गीता भगवान् का वाक्य हैं।

गीता एक पूर्ण ग्रन्थ है जिसमे सम्पूर्ण उपनिषदों का आध्यात्मिक ज्ञान सारतत्व में प्रकट हुआ है इसलिए गीता को गीतोउपनिषद (उपनिषद जो गीत या गान के रूप में है) भी कहा गया है। कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों के विज्ञान का अंश और तीनों का सामजस्य गीता में प्रकट है। गीता में समस्त उपदेशों का ज्ञान भरा हुआ है। इस प्रकार की समाधि पूर्ण ज्ञानमयी भाषा को पूर्ण ज्ञानी के सिवाय और कोई नही कह सकता है, क्योंकि समाधि भाषा के कहने वाले केवल पूर्ण समाधिस्थ पुरुष ही हो सकते हैं।

वेदों में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का जीवों के उद्धार के लिये पूर्ण वर्णन किया गया है, इसलिये वेद भगवान का वाक्य हैं, इसी प्रकार गीता में भी अठारह अध्यायों में कर्म, उपासना और ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसके सब अध्यायो में सब तरह की बातें होने पर भी प्रधानतः पहले छः अध्यायों में कर्म का, अगले छः अध्यायों में उपासना का और अंत के छः अध्यायों में ज्ञान का उपदेश किया गया है, इसलिये गीता पूर्ण है।

पूर्णताका और एक लक्षण है- साम्प्रदायिकता का आभाव और निष्पक्ष उदार भाव की प्रधानता। ऋषियों की बुद्धि और साम्प्रदायिक पुरुषों की बुद्धि में इतना ही अन्तर है। ऋषियों की बुद्धि पूर्ण होने के कारण उसमें साम्प्रदायिक पक्षपात नही रहता एवं उसमें किसी एक भाव की प्रधानता मानकर दूसरे भावों की निन्दा नही की जाती। भगवान वेदव्यास ने पूर्ण ऋषि होने से भिन्न भिन्न पुराणों में सभी ज्ञानों का वर्णन किया है परन्तु किसी की भी निंदा नहीं

की। साम्प्रदायिक पुरुषों बुद्धि इस प्रकार की नहीं होती, वे एक ही भाव को प्रधान मानकर औरों की निन्दा करते है। सम्पूर्ण विश्व में जब से इस प्रकार के साम्प्रदायिक मतों का प्रचार हुआ है, तभी से भारत में अशान्ति और मतद्वैधता फैल गई है, और एक दूसरे की निन्दा व ईर्षा फैला कर धर्म के नाम पर अधर्म होने लगा है। परन्तु गीता में इस प्रकार के विचार नहीं हैं, क्योंकि गीता भगवान के मुख से उच्चारित हुआ पूर्ण ग्रन्थ है, इसलिये श्रीमद्भागवत गीता सम्पूर्ण मनुष्य जाति का सामान रूप से कल्याण करने वाली है । इसमें कर्मी के लिये निष्काम कर्म का उदारभाव, भक्तों के लिये भक्ति का मधुरभाव और ज्ञानीके लिये परम ज्ञान का गम्भीरभाव, सभी भाव सामजस्य से वर्णित किये गए हैं, जिससे गीता का पाठ करके सभी धर्म के लोग सन्तुष्ट होते हैं।

श्रीमद्भागवत गीता की एक और विशेषता यह है कि, गीता में भक्ति के छः अध्याय कर्म और ज्ञान के बीच में रखे गये है, क्योंकि भक्ति में मध्य में होने से कर्म मिश्रित, शुद्ध और ज्ञान मिश्रित यह तीनो प्रकार की भक्ति, सभी मनुष्यों का कल्याण कर सकती है। भक्ति सभी साधनों का प्राणरूप है, चाहे कर्मी हो, चाहे ज्ञानी हो, भक्ति मध्य में न होने से दोनों में बंधन की आशंका रहती है। भक्तिहीन कर्म अहंकार और कर्तृत्व उत्पन्न कर सकता है, परन्तु यदि कर्मी अपने को भगवान का निमित्तमात्र मानकर, जगत सेवा को भागवत सेवा समझकर, भक्ति के साथ कर्म करे तो, उस कर्म से अहंकार या बन्धन उत्पन्न नही होगा । उसी प्रकार भक्ति विहीन ज्ञान वाले मनुष्य में तर्कबुद्धि और अभिमान उत्पन्न होकर, ज्ञानमार्गी मनुष्य को बंधन में डाल सकता है, परन्तु ज्ञान के मूल में भक्ति रहने से ज्ञानी भक्त पूर्ण बन जायगा, केवल तार्किक और अभिमानी नही रहेगा, जिससे उसको पूर्णज्ञान की प्राप्ति होगी।

परब्रह्म स्वरुप भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में मध्य के अध्यायों में भक्ति को इसलिए भी रखा है क्योंकि दो विरुद्ध पक्षों में विवाद के समय, मध्यस्थ शान्त मनुष्य ही विवाद को मिटाता है और विवाद को आगे नहीं बढ़ने देता। कर्म और ज्ञान में सदा ही विवाद रहा है । कर्म जो कुछ कहता है ज्ञान उससे

विपरीत कहता है। कर्म के मत में जगत् सत्य है और ज्ञान के मत में जगत् मिथ्या है । कर्म के मत में मनुष्य को कर्मी होना चाहिये और ज्ञान के मत में निष्कर्मी होना चाहिये । इसलिये श्रीभगवान श्रीकृष्ण ने दोनों के मध्य में भक्ति को रख कर कर्म और ज्ञान का विवाद समाप्त कर दिया है ।

गीता में परपस्पर दोनो विरुद्ध भावों में भी सामजस्य रखा गया है। पूर्ण मनुष्य वही है जिसमे सुख दुःख आदि में सामान भाव रखने के शक्ति है, जिसके मन में सुख में हर्ष तथा दु:ख में विषाद का भाव नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि वह सुख दु:ख से परे आनन्दमय साम्यदशा को प्राप्त कर लेता है । पूर्णावतार में भी यही लक्षण पाया जाता है, क्योंकि, पूर्णज्ञानी होनेके कारण उनमें सकल प्रकार के विरुद्ध भावों का सामजस्य रहता है।

भगवान श्रीकृष्ण में इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध भावों का सामंजस्य था, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि, वे भगवान के पूर्णावतार थे और उन्ही पूर्णावतार के श्रीमुख से उच्चारित गीता सम्पूर्ण ग्रन्थ है।

प्रारम्भ में "तेरा तुझ को अर्पण" भावना से भगवान् श्री कृष्ण के चरण कमलों की वंदना करते हुए श्रीमद्भागवत गीता का यथा रूप वर्णन प्रारम्भ करते हैं

- मनीष त्यागी

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥

॥ श्रीमदभागवत गीता ॥

भगवान् श्री कृष्ण के विभिन्न नामों का अर्थ

अच्युत	जो अपनी प्रतिज्ञा व निश्चय से न डिगे या जिनका कभी विनाश न हो। आदि, मध्य व् अंत से रहित।
अनन्त	जिनका कोई अंत न हो।
अरिसूदन	शत्रुओं का विनाश करने वाले।
आद्य	सबके आदिकारण।
कमलपत्राक्ष	कमलपुष्प के दल के समान नेत्रोंवाले।
कृष्ण - श्यामसुन्दर	जो भक्तो के दु:खों और पापादि दोषों का निवारण करते हैं, अथवा प्रलय के समय जो सब प्राणियों की अपने कारण में लीन करें।
केशव	केशी दैत्य का अंत करने वाले। घने केशों से विभूषित।
केशिनिधूदन	केशी दैत्य का अंत करने वाला।
गोविन्द	गउओं का पालनेवाले। जिनकी भक्ति से स्वर्ग की प्राप्ति होती है (गो - स्वर्ग, विन्द- प्राप्ति)।
जगत्पति	संसार के स्वामी, पालनहार।
जगन्निवास	सम्पूर्ण चराचर जगत में निवास करने वाले।

जनार्दन	दुष्ट मनुष्यों को दण्ड देनेवाले (जन=दुष्ट लोग, अर्दन- पीड़ा देना); प्रार्थना करने पर मनुष्यों को पुरुषार्थ और मुक्ति देनेवाला।
देव-देवता	पूजने योग्य; परमेश्वर।
देवदेव	देवताओं के भी देवता।
देववर	देवताओं में श्रेष्ठ ।
देवेश	देवताओं के ईश्वर ।
पुरुषोत्तम	पुरूषों में उत्तम ।
प्रभु	स्वामी, समर्थ, मालिक।
भगवान्	ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञान को देनेवाले (भग- ऐश्वर्य, वान - देनेवाला) । जिनमे सम्पूर्णतया ये छः गुण नित्य रहें उसी का नाम भगवान् है।
भूतभावन	सब प्राणियों की उत्पन्न करने वाले।
भूतेश	सब प्राणियों के स्वामी।
मधुसूदन	मधु दैत्य सा संहार करने वाले। (मधु - दैत्य का नाम, सूदन - मारने वाला)
महात्मा	महान आत्मा, सभी आत्माओं में उत्तम, श्रेष्ठ।
महाबाहु	बलवान, पराक्रमी।

माधव	लक्ष्मीपति, मधु कुल में उत्पन्न होने वाले।
यादव	यदुवंशी, यादव कुल में उत्पन्न होने वाले।
योगी	तपस्वी।
योगेश्वर	समस्त योगों का ईश्वर, जिनकी प्राप्ति के लिए योगी तपस्या करते हैं।
वार्ष्णेय	वृष्णिकुल में उत्पन्न।
वासुदेव	वसुदेव के पुत्र ।
विश्वमूर्ति	समस्त विश्व को अपने अंदर धारण करने वाले।
विष्णु	जो सम्पूर्ण सृष्टि में फैला हुआ हो, व्यापक, परमेश्वर ।
सहत्रबाहु	हज़ारों हाथो वाले।
हृषिकेश	इन्द्रियों के स्वामी।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

करन्यास एवं अङ्गन्यास

॥ अथ करन्यास ॥

ॐ अस्य श्रीमद्भगवतगीतामालामंत्रस्य श्रीभगवान्
वेदव्यास ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता ।

ॐ यह नाम परमात्मा का है। मङ्गलाचरण के लिए प्रथम इसका उच्चारण करते हैं। इस श्रीमद्भागवत गीता-माला मंत्र के ऋषि भगवान् वेदव्यास हैं। इस माला मंत्र का छन्द अनुष्टप है और इस मंत्र के देवता सच्चिदानंद भगवान श्रीकृष्ण हैं।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
इति बीजम् ।

यह श्लोक बीजमन्त्र है। जिसका तुम्हे शोक नहीं करना चाहिए, तुम उसी का शोक करते हो और विद्वानों की तरह बातें करते हो ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
इति शक्तिः ।

यह इस माला मंत्र की शक्ति है - सब धर्मों का त्याग करके केवल मेरी शरण में आ जाओ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।
इति कीलकम् ।

यह श्लोक इस माला मंत्र का कीलक है - मैं तुम्हे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, अतः तुम शोक मत करो ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक।
इति इत्यंगुष्टाभ्यां नमः।

इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं और न अग्नि जला सकती है। यह मंत्र पढ़कर दोनों हाथ की तर्जनी अंगुली से दोनों हाथ के अँगूठों का स्पर्श करें।

न चैन कदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।
इति तर्जनीभ्याँ नमः ।

इस आत्मा को न जल भिगो सकता है और न वायु सुखा सकती है। यह मंत्र पढ़कर दोनों अँगूठों से दोनों तर्जनी अँगुलियों का स्पर्श करें।

अच्छेद्योऽयनदाह्योऽयमक्ले`द्योऽशोष्य एव च ।
इति मध्यमाभ्यां नमः।

यह आत्मा न काटने योग्य है, न जलाने योग्य है, न भिगोने योग्य है और न सुखाने योग्य है। यह मन्त्र पढ़कर दोनों अँगूठों से दोनों मध्यमा अंगुलियों का स्पर्श करें।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।
इत्यनामिकाभ्यां नमः ।

यह आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थिर और सनातन है। यह मन्त्र पढ़ कर दोनों अंगूठों से दोनों अनमिकाओं का स्पर्श करें।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः।
इति कनिष्टिकाभयं नमः ।

हे अर्जुन! तुम मेरे सैकड़ों और हज़ारों रूपों को देखो। यह मन्त्र पढ़कर दोनों कनीष्टिकाओं का स्पर्श करें।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतिनि च।
इति करतल करपृष्ठाभ्यां नमः।

जो रूप अनेकों प्रकार के रंगो और आकृति के हैं। यह मन्त्र पढ़कर पहले दाहिने हाथ के नीचे बायाँ हाथ रखना चाहिए और फिर बाएं हाथ नीचे दाहिना हाथ रखना चाहिए।

॥ इति करन्यासः ॥

******

॥ अथ अंगन्यास ॥

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः।
इति हृदयाय नमः ।

इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं और न अग्नि जला सकती है। वह मन्त्र पढ़ कर पाँचों उँगलियों से हृदय का स्पर्श करें।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।
इति शिरसैस्वाहा।

इस आत्मा को न जल भिगो सकता है और न वायु सुखा सकती है । यह मन्त्र पढ़कर सिर का स्पर्श करें।

अच्छेद्योऽयनदाह्योऽयमक्ले`द्योऽशोष्य एव च।
इति शिखायै वषट।

यह आत्मा न काटने योग्य है, न जलाने योग्य है, न भिगोने योग्य है और न सुखाने योग्य है। यह मन्त्र पढ़कर शिखा (चोटी) का स्पर्श करें।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।
इति कवचाय हुम।

यह आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थिर और सनातन है। यह मन्त्र पढ़ कर दाहिने हाथ से बाएं घुटने तथा बाएं हाथ से दाहिने घुटने का स्पर्श करें।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
इति नेत्रयाय वौषट।

हे अर्जुन ! तुम मेरे इन सैकड़ों और हज़ारों रूपों को देखो यह मन्त्र पढ़कर दाहिने हाथ से नेत्रों को छुएं।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च। इति अस्त्राय फट।

जो दिव्य रूप अनेक प्रकार के रंगों और आकृति के हैं। यह मन्त्र पढ़ कर दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा इन दोनों उँगलियों को बाएं हाथ की हथेली पर मारते हैं।

॥ इति अङ्गन्यास ॥

******

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ गीताधयानम

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन
स्वयं व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीम्- अष्टादशाध्यायिनीम्
अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्- गीते भवद्वेषिणीम् ॥ १॥

हे भागवत गीते! आप साक्षात् श्री भगवान् कृष्ण द्वारा अर्जुन को समझायी गई हो। महाभारत के भीष्म पर्व में प्राचीन मुनि व्यास द्वारा लिखी गई हो। हे भागवत गीते! आप अट्ठारह अध्याय वाली, अद्वैत अमृत की वर्षा करने वाली और इस संसार के दुखों और पापों का विनाश करने वाली हो। अतः हे माता। मैं शुद्ध मन से ध्यान कर तुम्हे अपने ह्रदय में धारण करता हूँ।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २॥

हे विशाल बुद्धि वाले बुद्धिमान, हे खिले हुआ कमल की पंखुड़ियों के सामान नेत्र वाले व्यासजी, आपने तेल से भरे हुए दीपक को प्रज्वल्लित करने के सामान ज्ञान के भंडार महाभारत ग्रन्थ की रचना की, आपको नमस्कार है।

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ ३॥

श्रीकृष्णचंद्र जी महाराज भक्तों के लिए आप कल्पवृक्ष है। आपके एक हाथ में चाबुक है और दुसरे हाथ से ज्ञानमुद्रा बनाये हुए अर्जुन को उपदेश देते हैं। उन्होंने गीतारुपी अमृत दुहा है। उन भगवान श्री कृष्ण को नमस्कार है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥४॥

सब उपनिषद गायों के समान, दुहने वाले भगवान् श्री कृष्ण, बछड़ा अर्जुन और दूध अमृत के समान श्रीमद्भागवत गीता है। बुद्धिमान मनुष्य उस दूध को पीते हैं अर्थात जो ज्ञानवान हैं वो गीता का पाठ करते हैं और पुन: जन्म नहीं लेते। अतः गीता पाठ को अमृत के सामान माना गया है।

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५॥

वासुदेव के पुत्र, कंस और चाणूर का विनाश करने वाले, देवकी को परमानन्द देने वाले, समस्त जगत के गुरु, भगवान् श्री कृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ।

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥६॥

भगवान् श्री कृष्ण की सहायता से पाँचों पांडव कौरवों से भरी रणनदी के पार उतरे अर्थात कुरुवंशी दुर्योधन आदि को परास्त किया। भीष्म और द्रोण उस नदी के दो किनारे थे। जयद्रथ उस नदी का जल स्वरुप था। गांधारी के पुत्र

नीलकमल थे। शल्य उस नदी में ग्राह रूप था। कृपाचार्य उस नदी का प्रवाह, कर्ण तरंग, अश्वथामा और विकर्षण भयानक मगर और दुर्योधन उस नदी का भंवर या चक्र था। कृपानिधान श्री कृष्ण ने पांडवों को उस नदी के पार उतार दिया।

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथा- सम्बोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमल- प्रध्वंसिनः श्रेयसे ॥ ७॥

महाभारत रुपी कमल हमारा कल्याण करे। यह रूप वचन रूप सरोवर से उत्पन्न हुआ है। यह निर्मल है, इसमें श्रीमद्भागवत गीता का अर्थ तीव्र सुगंध है, अनेक आख्यान केसर हैं, यह श्री कृष्ण की कथा के ज्ञान से खिला हुआ है, सज्जन रूप भ्रमर अत्यंत आनंदित होकर होकर प्रतिदिन इस कमल के रस का पान करते हैं। यह महाभारत रूप कमल कलियुग के समस्त पापों का विनाश करने वाला है।

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ८॥

जिन परमानन्द लक्ष्मी जी के पति की कृपा से गूंगे बोलने लगते हैं तथा पंगु पहाड़ पर चढ़ने योग्य हो जाते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः
स्तवैः वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैः गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः ॥ ९॥

ब्रह्मा, वरुण, इंद्र, रूद्र और मरुद्गण दिव्य स्रोतों से जिनकी स्तुति करते हैं; सामवेद के गाने वाले अंग और पदक्रम से सहित उपनिषदों और वेदों द्वारा जिनके गुणों का गान करते है; योगी ध्यान लगा कर मन को स्थिर कर जिनको देखते हैं, देवता और दैत्य जिनके अंत को नहीं जानते, उस परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

॥ इति ध्यानम ॥

******

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ प्रथमो अध्यायः अर्जुनविषादयोगः

प्रथम अध्याय: अर्जुनविषादयोग

कौरवों और पांडवों की सेनाओं के प्रधान-प्रधान शूरवीरों की गणना और सामर्थ्य का कथन:

धृतराष्ट्र उवाच :

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ ॥१.१॥

धर्म-क्षेत्रे, कुरु-क्षेत्रे, समवेताः, युयुत्सवः ।
मामकाः, पाण्डवाः, च, एव, किम्, अकुर्वत, संजय ॥

धृतराष्ट्र बोले :

हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित, युद्ध की इच्छावाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? ॥१.१॥

संजय उवाच :

दृष्टवा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।

आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ ॥१.२॥

दृष्ट्वा, तु, पाण्डव-अनीकम्, व्यूढम्, दुर्योधनः, तदा ।
आचार्यम्, उप-संगम्य, राजा, वचनम्, अब्रवीत् ॥

संजय बोले :

राजा दुर्योधन ने, व्यूह रचना युक्त, पाण्डवों की सेना को सतर्कता से देख कर,आचार्य द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा। ॥१.२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ॥१.३॥

पश्य, एताम्, पाण्डु-पुत्राणाम्, आचार्य, महतीम्, चमूम् ।
व्यढाम्, द्रपद-पुत्रण, तव, शिष्येण, धीमता ॥

हे आचार्य! आप अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्ययुम्न द्वारा, व्यूहाकार खड़ी की हुई, पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिए। ॥१.३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ॥१.४॥

अत्र, शूराः, महा-ईष्वासाः, भीम-अर्जुन-समाः, युधि ।
युयुधानः, विराटः, च, द्रुपद, च, महा-रथः ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ॥१.५॥

धृष्टकेतुः, चेकितानः, काशिराजः, च, वीर्यवान् ।
पुरुजित्, कुन्तिभोजः, च, शैव्यः, च, नर-पुङ्गवः ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ॥१.६॥

युधामन्युः, च, विक्रान्तः, उत्तमौजाः, च, वीर्यवान्।
सौभद्रः, द्रौपदेयाः, च, सर्वे, एव, महा-रथाः ॥

इस सेना में बड़े-बड़े धनुषों वाले तथा युद्ध में भीम और अर्जुन के समान शूरवीर, सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र- ये सभी महारथी हैं। ॥१.४-१.६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ॥१.७॥

अस्माकम्, तु, विशिष्टाः, ये, तान्, निबोध, द्विज-उत्तम् ।
नायकाः, मम, सैन्यस्य, संज्ञार्थम्, तान्, ब्रवीमि ते ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्ष में भी जो प्रमुख वीर हैं, उनको भी आप जान लीजिए। आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं, उनका मैं वर्णन करता हूँ। ॥१.७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ॥१.८॥

भवान्, भीष्मः, च, कर्णः, च, कृपः, च, समिति-जयः ।
अश्वत्थामा, विकर्णः, च, सौमदत्तिः, तथा, एव, च ॥

आप-द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्राम विजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा। ॥१.८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ॥१.९॥

अन्ये, च, बहवः, शूराः, मद्-अर्थे, त्यक्त-जीविताः।
नाना-शस्त्र-प्रहरणाः, सर्वे, युद्ध-विशारदाः ॥

और भी, बहुत-से शूरवीर मेरे लिए अपने जीवन का त्याग देने के लिए तत्पर हैं। जो की अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित और सभी प्रकार के युद्ध कौशल में निपुण हैं। ॥१.९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ ॥१.१०॥

अ-पर्याप्तम्, तत्, अस्माकम्, बलम्, भीष्म-अभिरक्षितम् ।
पर्याप्तम्, तु, इदम्, एतेषाम्, बलम्, भीम-अभिरक्षितम् ॥

भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी यह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित पांडवों की वह सेना जीतने में सुगम है। ॥१.१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ॥१.११॥

अयनेषु, च, सर्वेषु, यथा-भागम् , अवस्थिताः ।
भीष्मम्, एव, अभिरक्षन्तु, भवन्तः, सर्वे, एव, हि॥

अत: सभी मोर्चों पर, अपने अपने स्थान पर स्थित रहते हुए ,आप सभी निःसंदेह भीष्म पितामह की ही रक्षा करें। ॥१.११॥

दोनों सेनाओं की शंख-ध्वनि

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ ॥१.१२॥

तस्य, संजनेयन् , हर्षम्, कुरु-वृद्धः, पितामहः।
सिंह-नादम, विनद्य, उच्चे, शंखम् , दध्मौ, प्रतापवान् ।।

कौरवों के परम प्रतापी वयोवृद्ध पितामह भीष्म ने हुए उच्च स्वर से, सिंह की दहाड़ के समान गरजकर, शंख बजाया, जिससे दुर्योधन के हृदय में अत्यंत हर्ष उत्पन्न हुआ। ॥१.१२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ॥१.१३॥

ततः, शंखाः, च, भेर्यः, च, पणव-आनक-गोमुखाः।
सहसा, एव, अभ्यहन्यन्त, सः, शब्दः, तुमुलः, अभवत् ॥

ततपश्चात शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदंग और नरसिंघे आदि युद्ध में उपयोग होने वाले वाद्य यंत्र एक साथ ही बज उठे। उनका वह तुमुलनाद अत्यंत भयंकर हुआ। ॥१.१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ ॥ १.१४ ॥

ततः, श्वेतैः, हयैः, युक्ते, महति, स्यन्दने, स्थितौ ।
माधवः, पाण्डवः, च, एव, दिव्यौ, शङ्खौ, प्रदध्मतुः ॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में विराजमान, माधव यानी श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी दिव्य अलौकिक शंख बजाए। ॥ १.१४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंख भीमकर्मा वृकोदरः ॥ ॥ १.१५॥

पाञ्चजन्यम्, हृषीकेशः, देवदत्तम्, धनञ्जयः ।
पौण्ड्रम्, दध्मौ, महा-शङ्खम् , भीम-कर्मा, वृकोदरः ।।

श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त और अतिभोजी एवं अतिप्राकृत कर्म वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। ॥ १.१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ ॥१.१६॥

अनन्त-विजयम् , राजा, कुन्ती-पुत्रः, युधिष्ठिरः।
नकुलः, सहदेवः, च, सुघोष-मणिपुष्पकौ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाए। ॥१.१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ ॥ १.१७॥

काश्यः, च, परम-इष्वासः, शिखण्डी, च, महारथः।
धृष्टद्युम्नः, विराटः, च, सात्यकिः, च, अ-पराजितः ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ ॥ १.१८॥

द्रुपदः, द्रौपदेयाः, च, सर्वशः, पृथिवी पते।
सौभद्रः, च, महाबाहुः, शङ्खान्, दध्मुः, पृथक् पृथक्॥

महान धनुर्धर काशीराज, परम योद्धा शिखण्डी एवं धृष्टद्ययुम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु - इन सभी ने, हे राजन्! सभी ओर से अपने अपने शंख बजाए। ॥ १.१७-१.१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ ॥१.१९॥

सः, घोषः, धार्तराष्ट्राणाम्, हृदयानि, वि-अदारयत् ।
नभः, च, पृथिवीम्, च, एव, तुमुलः, वि-अनुनादयन् ॥

उस भयंकर शंखनाद ने आकाश और पृथ्वी को भी गुँजा दिया तथा उस भयंकर कोलाहल पूर्ण स्वर ने धृष्टराष्ट्र के पुत्रों और उनकी सेना का हृदय विदीर्ण कर दिए। ॥१.१९॥

अर्जुन द्वारा सेना-निरीक्षण

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ ॥१.२०॥

अथ, व्यवस्थितान्, दृष्ट्वा, धार्तराष्ट्रान्, कपि-ध्वजः ।
प्रवृत्ते, शस्त्रसंपाते, धनुः, उद्यम्य, पाण्डवः ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
अर्जुन उवाचः सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ ॥१.२१॥

हृषीकेशम्, तदा, वाक्यम्, इदम्, अहि, मही-पते।
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, रथम्, स्थापय, मे, अच्युत॥

हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुन ने मोर्चा बाँधकर खड़े हुए संबंधियों को देखकर, शस्त्र चलाने की तैयारी के समय, धनुष उठाकर, हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराज से यह वचन कहा- हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए। ॥१.२०-१.२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ ॥१.२२॥

यावत्, एतान्, निरीक्षे, अहम्, योद्ध कामान्, अवस्थितान् ।
कैः, मया, सह, योद्धव्यम्, अस्मिन्, रण-समुद्यमे ॥

और जब तक कि मैं युद्ध क्षेत्र में आये हुए, युद्ध के अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओं को भली प्रकार देख न लूँ और यह न समझ लूँ कि इस युद्ध रुपी

व्यापार में मुझे किन योद्धाओं के साथ युद्ध करना है, तब तक इस रथ को रणभूमि के मध्य में ही स्थिर रखिए। ॥१.२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ ॥१.२३॥

योत्स्यमानान्, अवेक्षे, अहम् , ये, एते, अत्र, समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य, दुर्बुद्धेः, युद्धे, प्रिय-चिकीर्षवः ॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में हित चाहने वाले जो राजा इस सेना के रूप में युद्ध करने के लिए एकत्रित हुए हैं उनको मैं देखना हूँ। ॥१.२३॥

संजय उवाचः

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ ॥१.२४॥

एवम्, उक्तः, हृषीकेशः, गुडाकेशेन, भारत।
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, स्थापयित्वा, रथ उत्तमम् ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच : पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ ॥ १.२५॥

भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः, सर्वेषाम्, च, महीक्षिताम् ।
उवाच, पार्थ, पश्य, एतान्, समवेतान्, कुरून्, इति ॥

संजय बोले :

हे धृतराष्ट्र! हृषिकेश के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्य, अर्जुन के रथ को ले जाकर खड़ा कर दिया तथा भीष्म, द्रोण तथा अन्य समस्त राजाओं के सामने भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा - हे पार्थ! यहां एकत्रित इन सभी कौरवों को देखो। ॥१.२४-१.२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ ॥१.२६॥

तत्र, अपश्यत्, स्थितान्, पार्थः, पितृन्, अथ, पितामहान् ।
आचार्यान् , मातुलान्, भ्रातृन्, पुत्रान्, पौत्रान्, सखीन्, तथा ।
श्वशुरान् ,सुहृदः, च, एव, सेनयोः उभयोः, अपि ॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ ॥१.२७॥

तान् समीक्ष्य, सः, कौन्तेयः, सर्वान्, बन्धुन्, अवस्थितान् ।
कृपया, परयो, अविष्टः, विषीदन्, इदम्, अब्रवीत् ॥

अर्जुन ने वहां उपस्तिथ दोनों पक्षों की सेनाओं में स्थित अपने ताऊ-चाचाओं को, दादों-परदादों को, गुरुओं को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को, ससुरों को तथा सुहृदों को भी देखा। वहाँ उपस्थित सम्पूर्ण बंधु बांधवों को देखकर, कुंतीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणा से शोक युक्त होकर यह वचन कहा। ॥१.२६-१.२७॥

मोह से व्याप्त हुए अर्जुन के कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचन

अर्जुन उवाच:

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥ ॥१.२८॥

दृष्ट्वा, इमम्, स्व-जनम्, कृष्ण, युयुत्सुम्, समुपस्थितम् ।
सीदन्ति, मम, गात्राणि, मुखम्, च, परिशुष्यति ॥

अर्जुन बोले :

हे कृष्ण! युद्ध क्षेत्र में आये हुए, युद्ध के अभिलाषी, इस स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है। ॥१.२८॥

वेपथुश्च शरीरे में रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्वक्चैव परिदह्यते ॥ ॥१.२९॥

वेपथुः, च, शरीरे, मे, रोम-हर्षः, च, जायते।
गाण्डीवम्, स्रं सते, हस्तात्, त्वक्, च, एव, परिदह्यते॥

मेरा सारा शरीर कांप रहा है, मुझे रोमांच का अनुभव हो रहा है, मेरा गांडीव धनुष मेरे हाथ से फिसल रहा है तथा मेरी त्वचा भी जल रही है। ॥१.२९॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥॥१.३०॥

न, च, शक्नोमि, अवस्थातुम्, भ्रमति, इव, च, मे, मनः ।
निमित्तान, च, पश्यामि, विपरीतानि, केशव ॥

मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, मैं खड़ा रहने में भी असमर्थ हूँ। मुझसे स्थिर नहीं रहा जाता और मेरे बाएं नेत्र में भी कम्पन हो रहा है। हे कृष्ण ! मुझे तो केवल अमंगल के ही कारण दिख रहे हैं। ॥ १.३०॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥ ॥१.३१॥

न, च, श्रेयः, अनुपश्यामि, हत्वा, स्व-जनम् , आहवे ।
न, काङ्क्षे, विजयम् , कृष्ण, न, च, राज्यम्, सुखानि, च ॥

हे केशव! युद्ध में स्वजन-समुदाय को मारकर भी मैं कल्याण नहीं देखता। हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य अथवा अन्य सुखों को ही। ॥ १.३१॥

किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ।
येषामर्थे काङक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥ ॥१.३२॥

किम् , नः, राज्येन, गोविन्द, किम् , भोगैः, जीवितेन, वा ।
येषाम् , अर्थे, काङक्षितम् , नः, राज्यम् , भोगाः, सुखानि, च ॥

हे गोविंद ! हमें ऐसे राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगों से और जीवन से भी क्या लाभ है? हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुख आदि अभीष्ट हैं। ॥१.३२॥

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥ ॥१.३३॥

ते, मे, अवस्थिताः, युद्ध, प्राणान् , त्यक्त्वा, धनानि, च ।
आचार्याः, पितरः, पुत्राः, तथा, एव, च, पितामहाः॥

वह सब तो धन और जीवन की आशा त्यागकर यहाँ युद्ध करने के लिए खड़े हैं – मेरे गुरुजन, ताऊ-चाचा, पुत्र, दादा इत्यादि ॥१.३३॥

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥ ॥ १.३४॥

मातुलाः, श्वशुराः पौत्रः, श्याला, सम्बन्धिनः, तथा ।
एतान्, न, हन्तुम्, इच्छामि, घ्नतः, अपि, मधु-सूदन ॥

और उसी प्रकार मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा अन्य आत्मीय जन भी यहीं उपस्थित हैं। हे मधुसूदन! यदि यह सब मुझे मारना चाहें तब भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता। ॥ ३४॥

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्न का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥ ॥१.३५॥

अपि, त्रै-लोक्य-राज्यस्य, हेतोः, किम्, नु, मही-कृते ।
निहत्य, धार्तराष्ट्रान्, नः, का, प्रीतिः, स्यात्, जनार्दन ॥

तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है? हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? ॥१.३५॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ॥ १.३६॥

पापम्, एव, आश्रयेत्, अस्मान्, हवा, एतान्, आततायिनः ।
तस्मात् , न, अर्हाः, वयम्, हन्तुम् , धार्तराष्ट्रान्, स्व-बान्धवान् ।
स्व-जनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥

इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा। अत: हे माधव! अपने ही बान्धव, धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा अन्य बांधवों को मारने का विचार हमें नहीं करना चाहिए क्योंकि अपने ही कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुख प्राप्त कर सकते हैं? ॥ १.३६॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ॥१.३७॥

यद्यपि, एते, न, पश्यन्ति, लोभ-उपहत-चेतसः।
कुल-क्षय-कृतम्, दोषम्, मित्र-द्रोहे, च, पातकम् ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ॥१.३८॥

कथम् , न, ज्ञेयम्, अस्माभिः, पापात्, अस्मात्, निवर्तितुम्।
कुल-क्षय-कृतम्, दोषम्, प्रपश्यद्भिः, जनार्दन ॥

राज्यलोभ से भ्रष्टचित्त होकर यदि कौरवगण कुल के नाश से क्या दोष होता है? तथा कुटुंब के विनाश और मित्र द्रोह से क्या पाप होता है? इन सब का

विचार नहीं कर पा रहे हैं, तब भी हे जनार्दन! कुल के नाश से उत्पन्न दोषों को जानते हुए भी, इस पापकर्म मे प्रवृत नहीं होने का विचार क्यों नहीं करना चाहिए? ॥१.३७ -१.३८॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ॥१.३९॥

कुल-क्षये, प्रणश्यन्ति, कुल-धर्माः, सनातनाः।
धर्मे, नष्टे, कुलम्, कृत्स्नम्, अधर्मः, अभिभवति, उत ॥

कुल के नाश से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं तथा धर्म का नाश हो जाने पर सम्पूर्ण कुल में अधर्म भी बहुत फैल जाता है। ॥१.३९॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ॥ १.४०॥

अधर्म-अभिभवात् कृष्ण, प्रदुष्यन्ति, कुल-स्त्रियः।
स्त्रीषु, दुष्टासु, वार्ष्णेय, जायते, वर्णसंकरः ॥

हे कृष्ण! अधर्म के आचरण से कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर अवांछित संतान उत्पन्न होती हैं। ॥ १.४०॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ॥१.४१॥

संकरः, नरकाय, एव, कुलघ्नानाम्, कुलस्य, च।

पतन्ति, पितरः, हि, एषाम् , लुप्त-पिण्ड-उदक क्रियाः॥

कुल को विनष्ट करने वाले वर्णसंकरों का जन्म, कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जल की क्रिया वाले अर्थात श्राद्ध और तर्पण से वंचित इनके पितर भी अधोगति[1] को प्राप्त होते हैं। ॥१.४१॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ॥१.४२॥

दोषैः, एतैः, कुलध्नानाम्, वर्णसंकर-कारकैः।
उत्साद्यन्ते, जाति-धर्माः, कुलधर्माः, च, शाश्वताः ॥

इन वर्णसंकर संतानों के दोषों से, कुल का विनाश हो जाता है तथा सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं। ॥ १.४२॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ॥१.४३॥

उत्सन्न-कुल-धर्माणाम् , मनुष्याणाम् , जनार्दन ।
नरके, नियतम्, वासः, भवति, इति, अनुशुश्रुम ॥

हे जनार्दन! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्य अनिश्चितकाल तक नरक में वास करते हैं, ऐसा हम सुनते आए हैं। ॥४३॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ॥१.४४॥

---

[1] दुर्दशा, अपने स्थान से गिर जाना

अहो, बत, महत्, पापम्, कर्तुम, व्यवसिताः, वयम् ।
यत्, राज्य-सुख-लोभन, हन्तुम् , स्व-जनम्, उद्यताः॥

आह ! कितने दुःख का विषय है की हम इस महान पाप को करने के लिए तैयार हो गए हैं, तथा राज्य और सुख के लालच में स्वजनों को मारने के लिए भी उद्यत हैं। ॥१.४४॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ॥ १.४५॥

यदि, माम्, अ-प्रतीकारम् , अ-शस्त्रम् , शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्राः, रणे, हन्युः, तत्, मे, क्षेमतरम्, भवेत् ॥

यदि मुझे, निहत्थे एवं प्रतिकार न करने वाले को, शस्त्र हाथ में लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार भी डालें तो वह मरना भी मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा। ॥१.४५॥

संजय उवाच :

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ॥१.४६॥

एवम् , उक्त्वा, अर्जुनः, संख्ये, रथ-उपस्थे, उपाविशत्।
विसृज्य, स-शरम्, चापम्, शोक-संविग्न-मानसः ॥

संजय बोले :-

रणभूमि में ऐसा कहकर, अर्जुन, शोक से व्याकुल चित्त होकर, धनुष बाण को त्यागकर रथ पर बैठ गए। ॥१.४६॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः। ॥१॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवत गीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का अर्जुन विषाद योग नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ द्वितीयोध्यायः सांख्ययोगः

द्वितीय अध्याय : सांख्ययोग

अर्जुन की कायरता के विषय में श्री कृष्णार्जुन-संवाद

संजय उवाचः

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ ॥२.१॥

तम् तथा, कृपया, आविष्टम्, अश्रुपूर्ण-आकुल-ईक्षणम् ।
विषीदन्तम्, इदम्, वाक्यम्, उवाच, मधुसूदनः ॥

संजय बोले :

इस प्रकार करुणा से व्याप्त और आँसुओं से पूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले शोकयुक्त अर्जुन के प्रति भगवान मधुसूदन ने यह वचन कहा। ॥२.१॥

श्रीभगवानुवाचः

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।। ॥२.२॥

कुतः, त्वो, कश्मलम् इदम्, विषमे, समुपस्थितम् ।
अनार्य-जुष्टम्, अ-स्वर्ग्यम्, अ-कीर्ति-करम्, अर्जुन ।।

श्रीभगवान श्रीकृष्ण बोले :

हे अर्जुन ! तुझे इस विकट परिस्थिति में ऐसा कुविचार कैसे प्राप्त हुआ है? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न ही स्वर्ग प्रदान करने वाला और न ही कीर्ति करने वाला है। ॥२.२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ॥२.३॥

क्लैब्यम्, मा, स्म, गमः, पार्थ, न, एतत् त्वयि, उपपद्यते।
क्षुद्रम्, हृदय-दौर्बल्यम्, त्यक्त्वा, उत्तिष्ठ, परं-तप ॥

हे पार्थ ! तुम्हे इस कापुरुषता[2] को प्राप्त नहीं करना चाहिए, तुम्हारे जैसे वीर को यह शोभा नहीं देता। हे शत्रुदमन अर्जुन ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा। ॥२.३॥

अर्जुन उवाचः

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ॥२.४॥

कथम्, भीष्मम्, अहम्, संख्ये, द्रोणम्, च, मधु-सूदन ।

---

[2] नपुंसकता

इषुभिः, प्रति, योत्स्यामि, पूजा-अर्हौ, अरि-सूदन ।।

अर्जुन बोले :

हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में किस प्रकार बाणों से भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं। ॥२.४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ॥२.५॥

गुरून्, अ-हत्वा, हि, महानुभावान्, श्रेयः, भोक्तुम् , भैक्ष्यम्, अपि, इह, लोके।
हत्वा, अर्थ-कामान्, तु, गुरून्, इह, एव, भुञ्जीय, भोगान्, रुधिर-प्रदिग्धान्॥

इसलिए इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर, मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना भी कल्याणकारी समझता हूँ। क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी तो मैं इस लोक में रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही भोगूँगा। ॥२.५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ॥२.६॥

न, च, एतत्, विद्मः , कतरत्, नः, गरीयः, यद्वा, जयेम, यदि, बा, नः, जयेयुः ।
यान्, एव, हत्वा, न, जिजीविषामः, ते, अवस्थिताः, प्रमुखे, धार्तराष्ट्राः ॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना और न करना- इन दोनों में से कौन सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि इस युद्ध में हम जीतेंगे

या हारेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय, धृतराष्ट्र के सम्बन्धी[3], हमारे सामने युद्ध के लिए खड़े हैं। ॥२.६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
॥२.७॥

कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः, पृच्छामि, त्वाम् , धर्म-संमूढ-चेताः ।
यत्, श्रेयः, स्यात्, निश्चितम् ब्रूहि, तत् , मे, शिष्यः, ते, अहम्, शाधि, माम्, त्वाम्, प्रपन्नम् ॥

इसलिए कृपणता[4] रुपी दोष से व्यथित हुआ तथा धर्म के विषय में चित्त में मोह लिए हुए मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन मेरे लिए निश्चित रूप से कल्याणकारी हो, वह बताइये क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। अत: आपकी शरण में आये हुए मुझ शिष्य को आप शिक्षा दीजिए। ॥२.७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्रमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ॥२.८॥

न, हि, प्रपश्यामि, मम, अपुनुद्यात् , यत्, शोकम्, उच्छोषणम्, इन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य , भूमौ, अ-सपत्नम्, ऋद्धम्, राज्यम्, सुराणाम्, अपि, च, अधिपत्यम्॥

समस्त पृथ्वी का एकछत्र, शत्रुहीन साम्राज्य तथा देवताओं का अधिपत्य भी यदि मुझे प्राप्त हो जाए, तब भी इन्द्रियों को सुखाने वाला मेरा यह तीव्र शोक कैसे दूर हो सकेगा, यह मुझे समझ नहीं आ रहा। ॥२.८॥

---

[3] भीष्म, द्रोणाचार्य इत्यादि
[4] दुर्बलता, कायरता

संजय उवाचः

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ॥२.९॥

एवम्, उक्त्वा, हृषीकेशम् , गुडाकेशः, परंतपः।
न, योत्स्ये, इति, गोविन्दम्, उक्त्वा, तूष्णीम्, बभूव, ह ॥

संजय बोले :

हे राजन्! शत्रुओं को संताप देनेवाले, निद्रा को जीतने वाले अर्जुन, भगवान् हृषिकेश से ऐसा कहकर और फिर 'हे गोविंद! युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गए। ॥२.९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ ॥२.१०॥

तम्, उवाच, हृषीकेशः, प्रहसन् , इव, भारत ।
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, विषीदन्तम्, इदम्, वचः ॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के बीच बीच में शोक करते हुए उस अर्जुन से भगवान् हृषिकेश ने मुस्कुराते हुए यह वचन कहे : ॥२.१०॥

सांख्ययोग का विषय

श्री भगवानुवाचः

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ॥२.११॥

अ-शोच्यान् , अनु-अशोचः, त्वम्, प्रज्ञा-वादान, च, भाषसे।
गत-असून्, अ-गत-असून, च, न, अनुशोचन्ति, पण्डिताः ॥

श्री भगवान श्रीकृष्ण बोले :

हे अर्जुन! तुम जिनके लिए शोक करना उचित नहीं है, उनके लिए शोक करते हो और बुद्धिमानों की तरह वचन बोलते हो, परन्तु जिनके प्राण चले गए हैं उनके लिए, और जिनके प्राण नहीं गए हैं उनके लिए भी पण्डितजन शोक नहीं करते। ॥२.११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ ॥२.१२॥

न, तु, एव, अहम्, जातु, न, आसम्, न, त्वम्, न, इमे, जन-अधिपाः ।
न, च, एव, न, भविष्यामः, सर्वे, वयम्, अतः, परम् ॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, तुम भी थे अथवा यह राजा नहीं थे और न ऐसा ही है कि भविष्य में भी हम सब नहीं रहेंगे अर्थात आत्मा के अविनाशी होने के कारण सभी पहले भी थे और भविष्य में भी विद्यमान रहेंगे। ॥२.१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ ॥२.१३॥

देहिनः, अस्मिन्, यथा, देहे, कौमारम्, यौवनम्, जरा ।
तथा, देह-अन्तर-प्राप्ति :, धीरः, तत्र, न, मुह्यति ॥

जिस प्रकार जीवात्मा को इस शरीर में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, उसी प्रकार अन्य शरीर की भी प्राप्ति होती है। इस विषय में धीर[5] ज्ञानी मनुष्य कभी मोहित नहीं होते। ॥२.१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ ॥२.१४॥

मात्रा-स्पर्शाः, तु, कौन्तेय, शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दाः।
आगम-अपायिनः, अनित्याः, तान्, तितिक्षस्व, भारत ॥

हे कुंतीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो विनाशशील और अनित्य हैं। हे भारत! तुम उन्हें सहन करो। ॥२.१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ॥२.१५॥

यम्, हि, न, व्यथयन्ति, एते, पुरुषम्, पुरुष-ऋषभ ।
सम-दुःख-सुखम्, धीरम्, सः, अमृतत्वाय, कल्पते ॥

---

[5] शांत स्वाभाव वाले

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर मनुष्य को इन्द्रिय और विषयों के संयोग विचलित नहीं करते, वही मोक्ष प्राप्त करने के योग्य होते है। ॥२.१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥ ॥२.१६॥

न, असतः, विद्यते, भावः, न, अभावः, विद्यते, सतः ।
उभयोः, अपि, दृष्टः, अन्तः, तु, अनयोः, तत्त्व-दर्शिभिः॥

जो नहीं है वह कभी हो नहीं सकता और जो है उसका कभी अभाव भी नहीं हो सकता। तत्व ज्ञानी पुरुषों ने सत और असत इन दोनों का अंत जान लिया है अर्थात इनके स्वरुप का निर्णय कर लिया है। ॥२.१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ ॥२.१७॥

अविनाशि, तु, तत्, विद्धि, येन, सर्वम्, इदम्, ततम् ।
विनाशम्, अ-व्ययस्य, अस्य, न, कश्चित् , कर्तुम्, अर्हति ॥

जिसके द्वारा समस्त संसार व्याप्त है, उस सत को ही नाशरहित ब्रह्म जानना चाहिए। सदा एक रूप में स्थित इस अविनाशी ब्रह्म का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। ॥२.१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ ॥२.१८॥

अन्तवन्तः, इमे, देहाः, नित्यस्य, उक्ताः, शरीरिणः।
अ-नाशिनः, अ-प्रमेयस्य, तस्मात्, युध्यस्व, भारत ॥

शरीर का स्वामी आत्मा सदा एकरूप, अविनाशी तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अगम्य है। उसके साथ ये जो सब शरीर हैं, ये ही नाशवान कहे जाते हैं। अत: हे भारत ! तुम युद्ध मे प्रवृत हो । ॥२.१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ ॥२.१९॥

यः, एनम् , वेत्ति, हन्तारम् , यः, चं, एनम् , मन्यते, हतम् ।
उभौ, तौ, न, विजानीतः, न, अयम् , हन्ति, न, हन्यते ॥

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी द्वारा मारा जाता है। ॥२.१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ ॥२.२०॥

न, जायते, म्रियते, वा, कदाचित् , न, अयम् , भूत्वा, भविता, वा, न, भूयः।
अजः, नित्यः, शाश्वतः, अयम् , पुराणः, न, हन्यते, हन्यमाने, शरीरे ॥

यह आत्मा किसी भी काल में न तो जन्म लेता है और न ही मरता है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के समाप्त हो जाने पर भी यह समाप्त नहीं होता। ॥२.२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ ॥२.२१॥

वेद, अविनाशिनम्, नित्यम्, यः, एनम्, अजम्, अव्ययम् ।
कथम्, सः, पुरुषः, पार्थ, कम्, घातयति, हन्ति, कम् ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो मनुष्य इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अक्षय मानता है, वह मनुष्य कैसे किसी को मार सकता है और कैसे किसी को मरवा सकता है?॥२.२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ ॥२.२२॥

वासांसि, जीर्णानि, यथा, विहाय, नवानि, गृह्णाति, नरः, अपराणि ।
तथा, शरीराणि, विहाय, जीर्णानि, अन्यानि, संयाति, नवानि, देही ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नए शरीर को प्राप्त करता है। ॥२.२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ ॥२.२३॥

न, एनम्, छिन्दन्ति, शस्त्राणि, न, एनम्, दहति, पावकः ।
न, च, एनम्, क्लेदयन्ति, आपः, न, शोषयति, मारुतः ॥

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। ॥२.२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ ॥२.२४॥

अ-च्छेद्यः, अयम् , अ-दाह्यः, अयम्, अ-क्लेद्यः, अ-शोष्य, एव, च ।
नित्यः, सर्वगतः, स्थाणुः, अचलः, अयम् , सनातनः ॥

क्योंकि इस आत्मा को खंडित नहीं किया जा सकता, अग्नि में जलाया भी नहीं जा सकता, जल में गलाया नहीं जा सकता और न ही सुखाया जा सकता है। अत: यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अविकारी, निष्क्रिय, सर्वदा एक रूप रहने वाला और सनातन है। ॥२.२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ ॥२.२५॥

अव्यक्तः, अयम् , अचिन्त्यः, अयम् , अविकार्यः, अयम् , उच्यते।
तस्मात् , एवम्, विदित्वा, एनम् , न, अनुशोचितुम्, अर्हसि ॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और आत्मा विकाररहित है। अत: हे अर्जुन! इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर तुम्हे शोक नहीं करना चाहिए। ॥२.२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ ॥२.२६॥

अथ, च, एनम् , नित्य-जातम् , नित्यम् , वा, मन्यसे, मृतम् ।
तथा, अपि, त्वम्, महाबाहो, न, एवम् , शोचितुम्, अर्हसि॥

परन्तु यदि इस आत्मा को तुम नित्य जन्म लेने वाला तथा नित्य मरने वाला मानते हो, तब भी हे महाबाहो! तुम्हे इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए। ॥२.२६॥

जातस्त हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ॥२.२७॥

जातस्य, हि, ध्रुवः, मृत्युः, ध्रुवम् , जन्म, मृतस्य, च ।
तस्मात् , अपरिहार्ये, अर्थे, न, त्वम्, शोचितुम् , अर्हसि । ॥

क्योंकि इस मान्यता के अनुसार भी जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म निश्चित है। अत: तुम्हे इस अवश्यम्भावी विषय में शोक नहीं करना चाहिए। ॥२.२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ ॥२.२८॥

अव्यक्त-आदीनि, भूतानि, व्यक्त-मध्यानि, भारत ।
अव्यक्त-निधनानि, एव, तत्र, का, परिदेवना ॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अदृश्य थे और मृत्यु के बाद भी अदृश्य हो जायेंगे, केवल जन्म और मृत्यु के मध्य काल में ही दृश्य हैं, फिर ऐसी स्थिति में शोक या विलाप करने की क्या आवश्यकता है? ॥२.२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ ॥२.२९॥

आश्चर्यवत् ,पश्यति, कश्चित्,एनम्,आश्चर्यवत् , वदति, तथा, एव, च, अन्यः।
आश्चर्यवत्, च, एनम् , अन्यः, शृणोति, श्रुत्वा, अपि, एनम् , वेद, न, च, एव,
कश्चित् ॥

कोई एक महापुरुष ही इस आश्चर्य जैसी आत्मा को देखता है, और, वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इस आश्चर्य जैसी आत्मा के तत्व का वर्णन करता है तथा कोई अन्य अधिकारी पुरुष ही इस आश्चर्य जैसी आत्मा का श्रवण करता है परन्तु कोई तो सुनने, बोलने, देखने पर भी इसके यथार्थ स्वरुप को नहीं जान पाता। ॥२.२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ॥२.३०॥

देही, नित्यम्, अवध्यः, अयम् , देहे, सर्वस्य, भारत ।
तस्मात्, सर्वाणि, भूतानि, न, त्वम्, शोचितुम्, अर्हसि ॥

हे अर्जुन! सबके शरीर मे रहने वाला या आत्मा सदा ही अवध्य है। इसलिए तुम्हे स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी भी प्राणि के लिए शोक नहीं करना चाहिए। ॥२.३०॥

क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता का निरूपण

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ॥२.३१ ॥

स्व-धर्मम्, अपि, च, अवेक्ष्य, न, विकम्पितुम्, अर्हसि ।
धम्र्यात्, हि, युद्धात्, श्रेयः, अन्यत्, क्षत्रियस्य, न, विद्यते ॥

अपने स्वधर्म को समझ कर भी तुम्हे विचलित नहीं होना क्योंकि क्षत्रिय धर्म के अनुसार क्षत्रियों के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर कोई अन्य कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। ॥२.३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नां स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ॥२.३२॥

यदृच्छया, च, उपपन्नम्, स्वर्ग-द्वारम्, अपावृतम् ।
सुखिनः, क्षत्रियाः, पार्थ, लभन्ते, युद्धम् , ईदृशम् ॥

हे पार्थ! बिना प्रयत्न के ही प्राप्त हुआ स्वर्ग का खुला द्वार रूप, ऐसा युद्ध तो भाग्यवान क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है। ॥२.३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ॥२.३३॥

अथ, चेत्, त्वम् , इमम् , धर्म्यम्, संग्रामम् , न, करिष्यसि ।
ततः, स्वःधर्मम् , कीर्तिम्, च, हित्वा, पापम् , अवाप्स्यसि ॥

इसके विपरीत यदि तुम इस धर्मयुद्ध से विमुख रहोगे तो अपने क्षत्रिय धर्म तथा यश को खो कर पाप के भागी बनोगे। ॥२.३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ॥२.३४॥

अकीर्तिम्, च, अपि, भूतानि, कथयिष्यन्ति, ते, अव्ययाम् ।

सम्भावितस्य, च, अकीर्तिः, मरणात्, अतिरिच्यते ॥

तथा सभी प्राणी तुम्हारी कभी ना क्षीण होने वाली अपकीर्ति की चर्चा करेंगे। सम्मानित व्यक्ति के लिए तो अपकीर्ति तो मृत्यु से भी अधिक कष्टकर होती है। ॥२.३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ॥२.३५॥

भयात्, रणात्, उपरतम्, मस्यन्ते, तवाम्, महाराथाः ।
येषाम्, च, त्वम्, बहुमतः, भूत्वा, यास्यसि, लाघंवम् ॥

वह भीष्म आदि महारथी तुम्हें भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे और जिनकी दृष्टि में तुम पहले बहुत सम्मानित थे, अब लघुता को प्राप्त होगे। ॥२.३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ॥२.३६॥

अवाच्य-वादान्, च, बहून्, वदिष्यन्ति, तव, अ-हिताः ।
निन्दन्तः, तव, सामर्थ्यम्, ततः, दुःखतरम्, नु, किम् ॥

तुमसे द्वेष रखने वाले तुम्हारी लोक प्रसिद्ध शक्ति की निंदा करते हुए तुम्हे बहुत से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे, उससे बढ़कर दुःख की बात और क्या होगी? ॥२.३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ॥२.३७॥

हतः, वा, प्राप्स्यसि, स्वर्गम् , जित्वा, वा, भोक्ष्यसे, महीम् ।
तस्मात्, उत्तिष्ट, कौन्तेय, युद्धाय, कृत-निश्चयः ॥

हे कुन्तीपुत्र ! या तो तुम धर्म युद्ध में वीरगति को प्राप्त होकर स्वर्ग को प्राप्त करोगे अथवा युद्ध मे विजय पाकर पृथ्वी का राज्य भोगोगे। इसलिए निश्चय करके युद्ध के लिए खड़े हो जाओ ॥२.३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ॥२.३८॥

सुख-दुःखे, समे, कृत्वा, लाभ-अलाभौ, जय-अजयौ ।
ततः, युद्धाय, युज्यस्व, न, एवम्, पापम्, अवाप्स्यसि ॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुख को एक समान समझकर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ, इस प्रकार युद्ध करने पर तुम्हे पाप नहीं प्राप्त होगा। ॥२.३८॥

कर्मयोग का विषय

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ॥२.३९॥

एषा, ते, अहिभिता, सांख्ये, बुधिर-योगे, तु, इमाम्, शृणु ।
बुद्ध्यः, युक्तः, यया, पार्थः, कर्म-बन्धम, प्रहास्यसि ॥

हे पार्थ! यह तो मैंने तुम्हारे लिए सांख्ययोग का वर्णन किया। अब यह कर्मयोग का विषय सुनो, इस कर्मयोग बुद्धि के द्वारा युक्त होकर यदि तुम कर्तव्य करोगे तो तुम्हे कर्म का बंधन कभी प्राप्त नहीं होगा। ॥२.३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवातो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ॥२.४०॥

न:, इह,अभिक्रम-नाश, अस्ति, प्रत्यवाय: न विद्यते ।
स्वल्पम्, अपि, अस्य, धर्मस्य, त्रायते, महत्:, भयात् ॥

इस कर्मयोग में फल का विनाश नहीं होता और न ही बीच में कोई विघ्न होता है। इस कर्मयोग धर्म का थोड़ा सा अंश भी, संसार रूप महान भय से जीव की रक्षा कर लेता है। ॥२.४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाका ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ॥२.४१॥

व्यवसाय-आत्मिका, बुद्धिः, एका, इह, कुरु-नन्दन ।
बहु-शाखाः, हि, अनन्ताः , च, बुद्धयः, अ-व्यवसायिनाम् ॥

हे अर्जुन! इस कर्मयोग में आत्मतत्व का निश्चय करने वाली बुद्धि एक ही होती है, किन्तु कर्म फल की इच्छा वाले विवेकहीन सकाम मनुष्यों की बुद्धियाँ निश्चय ही अनेक भेदों वाली और अनन्त होती हैं। ॥२.४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ॥२.४२॥

याम्, इमाम्, पुष्पिताम्, वाचम्, प्रवदन्ति, अ-विपश्चितः ।
वेद-वाद-रताः, पार्थ, न, अन्यत्, अस्ति, इति, वादिनः ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविश्लेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ॥२.४३॥

काम-आत्मानः, स्वर्ग-पराः, जन्म-कम-फल-प्रदाम् ।
क्रिया-विशेष-बहुलाम्, भोग-ऐश्वर्य-गतिम्, प्रति ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ॥२.४४॥

भोग-ऐश्वर्य-प्रसक्तानाम्, तया, अपहृत-चेतसाम् ।
व्यवसाय-आत्मिका, बुद्धिः, समाधौ, न, विधीयते ॥

हे अर्जुन! अविवेकी, कामपरायण, स्वर्गादि सुख को ही प्रधान मानने वाले, वैदिक सकाम कर्म काण्ड में मुग्ध होकर उसके अतिरिक्त और कुछ भी सेव्य नहीं है ऐसा कहने वाले लोग, प्रारम्भ में मधुर सकाम कर्मफल के विषय में मधुर बातें करते हैं तथा पुनः जन्म तथा मरणकारी भोग संपत्ति देने वाली वैदिक क्रिया काण्ड के विषय में भी बात करते हैं, भोग ऐश्वर्य में आसक्त, कर्म काण्ड को ही प्रमुख समझने वाले उन मनुष्यों की बुद्धि आत्मतत्व मे निश्चित नहीं रहती। ॥ २.४२-२.४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ॥२.४५॥

त्रै-गुण्य-विषयाः, वेदाः, निस्-त्रै-गुण्यः, भव, अर्जुन ।
निर्-द्वन्द्वः, नित्य-सत्त्व-स्थः, निर-योग-क्षेमः, आत्मवान् ॥

हे अर्जुन! वेद सांसारिक त्रिगुणमय[6] सकाम कर्मों[7] का प्रतिपादन करने वाले हैं, अत: तुम निष्काम हो जाओ और रागद्वेष आदि द्वंदों से शून्य, सदा नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित, योग क्षेम की चिंता से रहित तथा स्वाधीन अन्तःकरण वाले बनो ॥२.४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ॥२.४६॥

यावान्, अर्थः, उद-पाने, सर्वतः, संप्लुत-उदके।
तावान्, सर्वेषु, वेदेषु, ब्राह्मणस्य, विजानतः ॥

सब ओर जल से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय से मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मतत्व को जानने वाले मनुष्य के लिए वेद के सकाम कर्मकांड का उतना ही प्रयोजन रहता है, अर्थात कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। ॥२.४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भुर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ॥२.४७॥

कर्मणि, एव, अधिकार : ते, मा, फलेषु कदाचन।
मा, कर्म-फल-हेतुः, भूः, मा, ते, संङ्गः,अस्तु, अकर्मणि ॥

तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, उसके फलों में कभी नहीं। अतः केवल फल प्राप्ति की आकांशा से तुम्हारी कर्म में प्रवर्ति नहीं होनी चाहिए

[6] सत्व, रज और तमोगुण
[7] मनवांछित फल प्राप्ति के लिए यज्ञ इत्यादि

और फल नहीं मिलेगा इस विचार से भी कर्म में अरुचि नहीं होनी चाहिए। ॥२.४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ॥२.४८॥

योग-स्थः, कुरु, कर्माणि, सङ्गम् , त्यक्त्वा, धनञ्जय ।
सिद्धि-असिद्धयोः, समः, भूत्वा, समत्वम्, योगः, उच्यते ॥

हे धनंजय ! तुम योग में स्थित होकर, फल की इच्छा त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर कर्म करो। यह सिद्धि - असिद्धि में समभाव रखते हुए स्वकर्म को करना ही योग कहा जाता है। ॥२.४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ॥२.४९॥

दूरेण, हि, अवरम्, कर्म, बुद्धि-योगात्, धनञ्जय ।
बुद्धौ, शरणम्, अन्विच्छ, कृपणाः, फल-हेतवः ॥

बुद्धियोग (समत्व बुद्धि) की अपेक्षा सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है। इसलिए हे धनंजय ! तुम परमात्मा बुद्धि की शरण लेकर निष्काम कर्म करने की इच्छा करो क्योंकि फल की कामना करने वाले पुरुष तो अत्यंत दीन होते हैं। ॥२.४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ॥२.५०॥

बुद्धि-युक्तः, जहाति, इह, उभे, सुकृत-दुष्कृते ।
तस्मात्, योगाय, युज्यस्व, योगः, कर्मसु, कौशलम् ॥

समबुद्धियुक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात उनसे मुक्त हो जाता है। इसलिए तुम समत्व रूप बुद्धियोग के लिए ही प्रयत्न करों। यह समत्व रूप बुद्धियोग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात कर्मबंधन से छूटने का उपाय है। ॥२.५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ॥२.५१॥

कर्म-जम्, बुद्धि-युक्ताः, हि, फलम्, त्यक्त्वा, मनीषिणः ।
जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः, पदम्, गच्छन्ति, अनामयम् ॥

समत्व बुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बंधन से सर्वथा मुक्त होकर निर्विकार परम पद को प्राप्त करते हैं। ॥२.५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥२.५२॥

यदा, ते, मोह-कलिलम्, बुद्धिः, व्यतितरिष्यति।
तदा, गन्ता-असि, निर्वेदम्, श्रोतव्यस्य, श्रुतस्य, च ॥

जिस समय तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदल को भलीभाँति पार कर लेगी, उस समय तुम्हे पहले सुने हुए और आगे सुने जाने वाले कर्मफल के प्रति वैराग्य हो जाएगा। ॥२.५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ॥२.५३॥

श्रुति-विप्रतिपन्ना, ते, यदा, स्थास्यति, निश्चला ।
समाधौ, अचला, बुद्धिः, तदा, योगम् , अवाप्स्यसि ॥

जिस समय श्रुति वाक्यों को सुनकर विचलित हुई तुम्हारी बुद्धि निश्चल रूप से परमात्मा में स्थित हो जाएगी, उस समय तुम योग को प्राप्त कर लोगे। ॥२.५३॥

स्थिरबुद्धि मनुष्य के लक्षण और उसकी महिमा

अर्जुन उवाचः

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ॥२.५४॥

स्थित-प्रज्ञस्य, का, भाषा, समाधि-स्थस्य; केशव ।
स्थित-धीः, किम्, प्रभाषेत, किम्, आसीत, व्रजेत, किम् ॥

अर्जुन बोले :

हे केशव! समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि मनुष्य का क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है? ॥२.५४॥

श्रीभगवानुवाचः

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मयेवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ॥२.५५ ॥

प्रजाति, यदा, कामान्, सर्वान्, पार्थ, मनः-गतान् ।
आत्मनि, एव, आत्मना, तुष्टः, स्थित-प्रज्ञः, तदा, उच्यते ॥

श्री भगवान् बोले:

हे अर्जुन! जिस काल में मनुष्य मन की समस्त इच्छाओं को त्याग देता है और बाहरी विषयों[8] से सुख की अपेक्षा न रख कर आत्मा में ही आनंद की प्राप्ति करता है। उस समय उसे स्थिरबुद्धि कहते हैं। ॥२.५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ॥२.५६॥

दुःखेषु, अनुद्विग्न-मनाः, सुखेषु, विगत-स्पृहः ।
वीत-राग-भय-क्रोधः, स्थित-धीः, मुनिः, उच्यते ॥

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में आवेश नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में सर्वथा कामना से रहित रहता है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है। ॥२.५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ॥२.५७॥

यः, सर्वत्र, अनभि-स्नेहः, तत्,तत्, प्राय, शुभ-अशुभम् ।

---

[8] इन्द्रिय सुख

न, अभिनन्दति, न द्वेष्टि, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥

जो मनुष्य सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ॥२.५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गनीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ॥२.५८॥

यदा, संहरते, च, अयम्, कुर्मः, अङ्गानि, इव, सर्वशः।
इन्द्रियाणि, इन्द्रिय -अर्थेभ्यः, तस्य, प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जिस प्रकार कछुवा सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार जब वह मनुष्य अपनी समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से हटा लेता है, तब समझना चाहिए की उसकी बुद्धि स्थिर है। ॥२.५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ॥२.५९॥

विषयाः, विनिवर्तन्ते, निराहारस्य, देहिनः ।
रस-वर्जम् , रसः, अपि, अस्य, परम्, दृष्ट्वा, निवर्तते ॥

इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले मूर्ख मनुष्य के विषय तो मुक्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति मुक्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की तो आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके मुक्त हो जाती है। ॥२.५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ॥२.६०॥

यततः, हि, अपि, कौन्तेय, पुरुषस्य, विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि, प्रमाथीनि, हरन्ति, प्रसभम्, मनः ॥

हे अर्जुन! आसक्ति का नाश न होने के कारण, यह मन को मथ कर पीड़ित करने वाली इन्द्रियाँ, यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं। ॥२.६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ॥२.६१॥

तानि, सर्वाणि, संयम्य, युक्तः, आसीत, मत्परः।
वशे, हि, यस्य, इन्द्रियाणि, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥

अतः योगी को चाहिए की यत्न के साथ समस्त इन्द्रियों को वश में कर आत्मा में लगा रहे, क्योंकि जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है उनकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। ॥२.६१॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ॥२.६२॥

ध्यायतः, विषयान्, पुंसः, सङ्गः, तेषु, उपजायते ।
सङ्गात्, संजायते, कामः, कामात्, क्रोधः, अभिजायते ॥

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। ॥२.६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ॥२.६३॥

क्रोधात्, भवति, संमोहः, संमोहात्, स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृति-भ्रंशात्, बुद्धि-नाशः, बुद्धिनाशात् , प्रणश्यति ॥

क्रोध से कार्य अकार्य का अविवेक रुपी मोह उत्पन्न होता है, मोह से स्मृति विचलित हो जाती है, स्मृति के विचलित होने से बुद्धि अर्थात ज्ञानशक्ति का नाश होता है और बुद्धि का नाश हो जाने से पुरुष अपने स्थान से गिर जाता है अर्थात विनाश की ओर अग्रसर हो जाता है। ॥२.६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ॥२.६४॥

राग-द्वेष-वियुक्तैः, तु, विषयान् , इन्द्रियैः, चरन् ।
आत्म-वश्यैः, विधेय-आत्मा, प्रसादम् अधिगच्छति ॥

परंन्तु अपने अधीन किए हुए चित्त वाला साधक अपने अधीन की हुई, राग-द्वेष रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ मन की प्रसन्नता को प्राप्त करता है। ॥२.६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ॥२.६५॥

प्रसादे, सर्व-दुःखानाम् , हानिः, अस्य, उपजायते ।
प्रसन्न-चेतसः, हि, आशु, बुद्धिः, पर्यवतिष्ठते ॥

चित्त की प्रसन्नता होने पर उसके सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है और उस प्रसन्न चित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही ब्रह्माकार होकर आत्मा में स्थिर हो जाती है। ॥२.६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ॥२.६६॥

न, अस्ति, बुद्धिः, अयुक्तस्य, न, च, अयुक्तस्य, भावना ।
न, च, अभावयतः, शान्तिः, अशान्तस्य, कुतः, सुखम् ॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियों वाले पुरुष में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है? ॥२.६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ॥६७॥

इन्द्रियाणाम, हि, चरताम्, यत्, मनः, अनुविधीयते ।
ततः अस्य, हरति, प्रज्ञाम्, वायुः, नावम्, इव, अम्भसि ॥

क्योंकि इन्द्रियों के अपने अपने विषयों मे जाने पर जिस इन्द्रिय का मन अनुसरण करने लगता है वह असंयत मनुष्य की बुद्धि को उसी प्रकार हर लेती है जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है। ॥२.६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ॥२.६८॥

तस्मात्, यस्य, महाबाहो, निगृहीतानि, सर्वशः ।
इन्द्रियाणि, इन्द्रिय-अर्थेभ्यः, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥

अत: हे महाबाहो! जिसकी मन के सहित सभी इन्द्रियां अपने विषयों सहित वश मे लाई जा चुकी हों, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। ॥२.६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ॥२.६९॥

या, निशा, सर्व-भूतानाम्, तस्याम्, जाग्रति, संयमी ।
यस्याम्, जाग्रति, भूतानि, सा, निशा, पश्यतः, मुनेः ॥

सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उसमे इन्द्रिय संयमवान स्थिर बुद्धि योगी जागता है और जिस नाशवान सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, वह परमात्मा के तत्व को जानने वाले मुनि के लिए रात्रि के समान है। ॥२.६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
॥२.७०॥

आपूर्यमाणम्, अचल-प्रतिष्ठम्, समुद्रम् , आपः, प्रविशन्ति, यद्वत् ।
तद्वत्, कामाः, यम्, प्रविशन्ति, सर्वे, सः, शान्तिम्,आप्नोति, न, काम-कामी ॥

जैसे विभिन्न नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सभी भोग जिस स्थिर बुद्धि मनुष्य में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वही मनुष्य परम शान्ति को प्राप्त करता है। विषयों की कामना करने वाला मनुष्य परम शान्ति को कभी प्राप्त नहीं करता। ॥२.७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥॥२.७१॥

विहाय, कामान् , यः, सर्वान्, पुमान्, चरति, निःस्पृहः ।
निर्-ममः, निर्-अहङ्कारः, सः, शान्तिम्, अधिगच्छति ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममतारहित, अहंकाररहित होकर भाग्यवश प्राप्त होने वाले विषयों को ग्रहण करता है, वही शांति को प्राप्त होता है। ॥२.७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ॥२.७२॥

एषा, ब्राह्मी, स्थितिः, पार्थ, न, एनाम् , प्राप्य, विमुह्यति ।
स्थित्वा, अस्याम् , अन्तकाले, अपि, ब्रह्म-निर्वाणम्. ऋच्छति ॥

हे अर्जुन! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अंतकाल में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है। ॥२.७२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का सांख्य योग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ तृतीयोध्यायः कर्मयोगः

तृतीय अध्याय: कर्मयोग

ज्ञानयोग और कर्मयोग के अनुसार अनासक्त भाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरूपण

अर्जुन उवाच:

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ ॥३.१॥

ज्यायसी, चेत्, कर्मणः, ते, मता, बुद्धिः, जनार्दन ।
तत्, किम् ,कर्मणि, घोरे, माम् , नियोजयसि, केशव ॥

अर्जुन बोले :

हे जनार्दन! यदि आपको कर्म की अपेक्षा आत्मसुख देने वाली समत्व बुद्धि श्रेष्ठ लगती है तो फिर हे केशव! आप मुझे इस हिंसात्मक युद्ध कार्य में क्यों प्रवृत कर रहे हो? ॥३.१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ ॥३.२॥

व्यामिश्रेण, इव, वाक्येन, बुद्धिम्, मोहयसि, इव, में ।
तत्, एकम्, वद, निश्चित्य, येन, श्रेयः, अहम्, आप्नुयाम् ॥

मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है की आपके परपर मिले हुए, अर्थात अनेक अर्थों वाले वचनों से ,मेरी बुद्धि मोहित हो रही है। अत: आप निश्चय करके एक बात को कहिए, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूँ ॥३.२॥

श्रीभगवानुवाच:

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ॥३.३॥

लोके, अस्मिन्, द्विविधा, निष्ठा, पुरा, प्रोक्ता, मया, अनघ ।
ज्ञान-योगेन, सांख्यानाम्, कर्म-योगेन, योगिनोम् ॥

श्रीभगवान बोले :

हे निष्पाप अर्जुन! मैंने पहले के उपदेश में तुम्हे बताया है की इस संसार में मोक्ष लाभ के दो मार्ग होते हैं - ज्ञानयोग के द्वारा सम्यक बुद्धि प्राप्त हुए ज्ञानयोगियों का और कर्मयोग के द्वारा कर्ममार्गियों का। ॥३.३॥

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ॥३.४॥

न, कर्मणाम्, अनारम्भात, नैष्कर्म्यम्, पुरुषः, अश्नुते ।
न, च, संन्यसनात्, एव, सिद्धिम् , समधिगच्छति ॥

मनुष्य न तो कर्मों का आरंभ किए बिना निष्कर्मता को यानी योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठा को ही प्राप्त होता है। ॥३.४॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ॥३.५॥

न, ह, कश्चित, क्षणम्, अपि, जातु, तिष्ठति, अकर्म-कृत् ।
कार्यते, हि, अवशः, कर्म, सर्वः, प्रकृतिजैः, गुणैः ॥

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता क्योंकि समस्त मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों[9] द्वारा विवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य हो ही जाता है। ॥३.५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ॥३.६॥

कर्म-इन्द्रियाणि, संयम्य, यः, आस्ते, मनसा, स्मरन् ।
इन्द्रिय-अर्थान्, विमूढ-आत्मा, मिथ्या-आचारः, सः, उच्यते ॥

जो मूर्ख बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करते हुए कर्मशून्य रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात ढोंगी कहा जाता है। ॥३.६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ॥३.७॥

[9] प्रकृति जनित सत्व, रज तथा तमो गुण अथवा राग द्वेष आदि स्वाभाविक गुण

यः, तु, इन्द्रियाणि, मनसा, नियम्य, आरभते, अर्जुन।
कर्म-इन्द्रियैः, कर्म-योगम्, असक्तः, सः, विशिष्यते ॥

किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके फलाकंक्षा रहित होकर कर्मेन्द्रियों से शस्त्र विहित कर्म करता है, वह श्रेष्ठ है। ॥३.७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ॥३.८॥

नियतम्, कुरु, कर्म, त्वम्, कर्म, व्यायः, हि, अकर्मणः ।
शरीर-यात्रा, अपि, च, ते, न, प्रसिद्ध्य त, अकर्मणः ॥

तुम नित्य शास्त्रविहित कर्म करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तुम्हारा शरीर-निर्वाह भी नहीं होगा। ॥३.८॥

यज्ञादि कर्मों की आवश्यकता का निरूपण

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ॥३.९॥

यज्ञ-अर्थात्, कर्मणः, अन्यत्र, लोकः, अयम्, कर्म-बन्धनः।
तत्-अर्थम्, कर्म, कौन्तेय, मुक्त-सङ्गः, समाचर ॥

परमेश्वर[10] ले लिए किए जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त अन्य कर्मों में लगा हुआ कर्माधिकारी उनके बंधन में पड़ता है। इसलिए हे अर्जुन! तुम आसक्ति छोड़

[10] यज्ञ ही विष्णु है, इस श्रुति के अनुसार यज्ञ परमेश्वर का नाम है।

कर परमेश्वर की आराधना के लिए ही उचित कर्तव्य कर्मों का आचरण करो। ॥३.९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टा पुरोवाचप्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ ॥३.१०॥

सह-यज्ञाः, प्रजाः. सृष्ट्वा, पुरा, उवाच, प्रजा-पतिः।
अनेन, प्रसविष्यध्वम्, एषः, वः, अस्तु, इष्ट-काम-धुक् ॥

सृष्टि के आदिकाल में प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ सहित प्रजा को उत्पन्न करके उनसे कहा की तुम सब यज्ञ के द्वारा समृद्धि प्राप्त करो, यज्ञ ही तुम्हारे अभीष्ट फलों की पूर्ती करने वाला हो। ॥३.१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ॥३.११॥

देवान्, भावयत, अनेन, ते, देवाः, भावयन्तु, वः ।
परस्परम् , भावयन्तः, श्रेयः, परम्, अवाप्स्यथ ॥

तुम इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को तृप्त करो और देवतागण अन्न आदि के द्वारा तुम्हे तृप्त करें। इस प्रकार एक दूसरे को तृप्त करते हुए तुम परमकल्याण को प्राप्त करोगे। ॥३.११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ ॥३.१२॥

इष्टान्, भोगान्, हि, वः, देवाः, दास्यन्ते, यज्ञ-भाविताः।
तैः, दत्तान्, अप्रदाय, एभ्यः, यः, भुक्ते, स्तेनः, एव, सः ॥

यज्ञ से तृप्त हुए देवतागण तुम्हे इच्छित भोगों को प्रदान करेंगे, उनकी दी हुई वस्तुओं को उन्हें यज्ञ आदि रूप से समर्पण ना करके जो स्वयं उपभोग करता है वह देवधन की चोरी करने वाले चोर के समान है। ॥३.१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ ॥३.१३॥

यज्ञशिष्ट-अशिनः, सन्तः, मुच्यन्ते, सर्व-किल्बिषैः ।
भुञ्जते, ते, तु, अघम् , पापाः, ये, पचन्ति, आत्म-कारणात् ॥

यज्ञशेष[11] भोजन करने वाले सत्पुरुष सकल पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं, वह दुरात्मा पाप का ही उपभोग करते हैं। ॥३.१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ ॥३.१४॥

अन्नात्, भवन्ति, भूतानि, पर्जन्यात्, अन्न-सम्भवः।
यज्ञात्, भवति, पर्जन्यः, यज्ञः, कर्म-समुद्भवः ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ॥३.१५॥

कर्म, ब्रह्म-उद्भवम्, विद्धि, ब्रह्म, अक्षर-समुद्भवम् ।
तस्मात, सर्व-गतम्, ब्रह्म, नित्यम्, यज्ञे, प्रतिष्ठितम् ॥

---

[11] यज्ञ मे भगवान को अर्पण करने से और पञ्च बलि समर्पण के पश्च्यात बचा हुआ अथवा वैश्वदेव आदि यज्ञ से बचा हुआ

अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञ से वृष्टि होती है, यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है, कर्म को तुम वेद से प्रमाणित मानों और वेद परमात्मा से आविर्भूत होने वाला है। अतः कर्म विचार से सर्वव्यापी तथा अविनाशी परमात्मा सदा वेद यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं। ॥३.१४-३.१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ ॥३.१६॥

एवम्, प्रवर्तितम्, चक्रम् , न, अनुवर्तयति, इह, यः ।
अघ-आयुः, इन्द्रिय-आरामः, मोघम्, पार्थ, सः, जीवति ॥

हे पार्थ! जो पुरुष परमात्मा द्वारा चलाये हुए इस कर्मचक्र के अनुसार नहीं चलता, वह पापमय जीवन वाला और इन्द्रियों में रमण करने वाला मनुष्य व्यर्थ ही जीता है। ॥३.१६॥

ज्ञानवान और भगवान के लिए भी लोक संग्रहार्थ कर्मों की आवश्यकता

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ॥३.१७॥

यः, तु, आत्म-रतिः, एव, स्यात्, आत्म-तृप्तः, च, मानवः ।
आत्मनि, एव, च, संतुष्टः, तस्य, कार्यम्, न, विद्यते ॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीति रखने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है, उसका कोई कर्तव्य नहीं रहता। ॥३.१७॥

संजय उवाचः

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ॥३.१८॥

न, एव, तस्य, कृतेन, अर्थः, न, अ-कृतेन, इह, कश्चन ।
न, च, अस्य, सर्व-भूतेषु, कश्चित, अर्थ-व्यपाश्रयः ॥

उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है क्योंकि उसका सम्पूर्ण प्राणियों से किसी भी प्रकार का स्वार्थ संबंध नहीं रहता। ॥३.१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥ ॥३.१९॥

तस्मात्, अ-सक्तः, सततम्, कार्यम्, कर्म, समाचर।
अ-सक्तः, हि, आचरन, कर्म, परम्, आप्नोति, पूरुषः॥

इसलिए तुम निरन्तर फलासक्ति से रहित होकर, सदा कर्तव्यकर्म को भलीभाँति करते रहो। क्योंकि फलासक्ति से रहित होकर कर्म करने वाला मनुष्य, परमपद को प्राप्त करता है। ॥३.१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ ॥३.२०॥

कर्मणा, एव, हि, सं सिद्धिम्, अस्थिताः, जनक-आदयः।
लोक-संग्रहम् , एव, अपि, संपश्यन्, कर्तुम् , अर्हसि ॥

जनक आदि अन्य श्रेष्ठ विद्वानों ने कर्म के द्वारा ही मोक्ष लाभ लिया है। इसके अतिरिक्त लोकसंग्रह अर्थात मनुष्यों को स्वधर्म में प्रवृत करने का प्रयोजन देखकर भी तुम्हे कर्म करना चाहिए। ॥३.२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ॥३.२१॥

यत्, यत्, आचरति, श्रेष्ठः, तत्, तत्, एव, इतरः, जनः।
सः, यत्, प्रमाणम्, कुरुते, लोकः, तत्, अनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करते हैं, लौकिक साधारण मनुष्य वैसा की आचरण करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष जो भी कुछ प्रमाण रूप से बताते हैं, साधारण जन उसी का अनुसरण करते हैं। ॥३.२१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ ॥३.२२॥

न, में, पार्थ, अस्ति, कर्तव्यम्, त्रिषु, लोकेषु, किंचन।
न, अनवाप्तम्, अवाप्तव्यम्, वर्ते, एव, च, कर्मणि ॥

हे अर्जुन! इन तीनों लोकों मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है और न ही कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तब भी मैं कर्म मे तत्पर रहता हूँ। ॥३.२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ॥३.२३॥

यदि, हि, अहम्, न, वर्तेयम्, जातु, कर्मणि, अतन्द्रितः ।
मम, वृत्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः॥

हे पार्थ! यदि कदाचित आलस्य को त्यागकर मैं कर्म मे तत्पर न रहूँ तो साधारण मनुष्य भी सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुसरण करते हुए कर्म करना छोड़ देंगे। ॥३.२३॥

यदि उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ॥३.२४॥

उत्सीदेयुः, इमे, लोकाः, न, कुर्याम्, कर्म, चेत्, अहम् ।
संकरस्य, च, कर्ता, स्याम्, उपहन्याम्, इमाः, प्रजाः॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सब लोक नष्ट हो जायेंगे। कर्मनाश से धर्मनाश होकर वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होगी और मैं ही इस प्रकार प्रजानाश तथा वर्णसंकर उत्पत्ति का कारण कहलाऊंगा। ॥३.२४॥

अज्ञानी और ज्ञानवान के लक्षण तथा राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करने के लिए प्रेरणा

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ ॥३.२५॥

सक्ताः, कर्मणि, अविद्वांसः, यथा, कुर्वन्ति, भारत ।
कुर्यात्, विद्वान्, तथा, असक्तः, चिकीर्षुः, लोक-संग्रहम् ॥

हे भारत! कर्म में आसक्त अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार कर्म करते हैं, लोक संग्रह की इच्छा रखने वाले ज्ञानी पुरुष को, आसक्ति छोड़ कर, उसी प्रकार से कर्म करना चाहिए। ॥३.२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ ॥३.२६॥

न, बुद्धि-भेदम्, जनयेत्, अज्ञानाम्, कर्म-सङ्गिनाम् ।
जोषयेत्, सर्व-कर्माणि, विद्वान्, युक्तः, समाचरन् ॥

परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि को विचलित न करे अर्थात कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न नहीं करे, किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म करता हुआ उन्हें कर्ममार्ग में प्रवृत रखे। ॥३.२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ ॥३.२७॥

प्रकृतेः, क्रियमाणानि, गुणैः, कर्माणि, सर्वशः ।
अहंकार-विमूढ-आत्मा, कर्ता, अहम्, इति, मन्यते ॥

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के तीन गुणों द्वारा किए जाते हैं, परन्तु अहंकार से परिपूर्ण मूर्ख बुद्धि मनुष्य मैंने किया है, मैं ही करता हूँ, ऐसा समझता है। ॥३.२७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ ॥३.२८॥

तत्त्व-वित्, तु, महाबाहो, गुण-कर्म-विभागयोः ।
गुणाः, गुणेषु, वर्तन्ते, इति, मत्वा, न, सज्जते ॥

परन्तु हे महाबाहो! गुण और कर्म आत्मा से विभिन्न है इस तत्व को जानने वाला मनुष्य गुण गुण ही में रहता है, आत्मा में नहीं। ऐसा समझकर इनमें आसक्त नहीं होता। ॥३.२८॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नवित्र विचालयेत् ॥ ॥३.२९॥

प्रकृतेः, गुण-संमूढाः, सजन्ते, गुण-कर्मसु ।

तान्, अ-कृत्स्न-विदः, मन्दान्, कृत्स्न-वित्, न, विचालयेत् ॥

प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य, देह-इन्द्रिय आदि गुणों के कर्मों में आसक्त हो जाते हैं। परिपूर्ण परब्रह्म के ज्ञाता विद्वान को चाहिए की अल्पदर्शी उन मूर्ख मनुष्यों को बुद्धि-भेद द्वारा कर्म की श्रद्धा से विचलित न करें। ॥३.२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्रयस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ॥३.३०॥

मयि, सर्वाणि, कर्माणि, संन्यस्य, अध्यात्म-चेतसा।
निर्-आशीः, निर्-ममः, भूत्वा, युध्यस्व, विगत-ज्वरः॥

तुम अध्यात्म बुद्धि से सब कर्मों को मुझे अर्पण करते हुए फल की इच्छा और ममता से रहित होकर सन्तापरहित रह कर युद्ध करो ॥३.३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽति कर्मभिः ॥ ॥३.३१॥

ये, मे, मतम् , इदम् , नित्यम् , अनुतिष्ठन्ति, मानवाः।
श्रद्धावन्तः, अनसूयन्तः, मुच्यन्ते, ते, अपि, कर्मभिः ॥

जो मनुष्य दोषदृष्टि से रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। ॥३.३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ॥३.३२॥

ये, तु, एतत् , अभ्यसूयन्तः, न, अनुतिष्ठन्ति, मे, मतम् ।
सर्व-ज्ञान-विमूढान् , तान्, विद्धि, नष्टान्, अचेतसः ॥

परन्तु जो मनुष्य मेरे इस मत की निंदा करके इसका अनुसरण नहीं करते हैं, उन अविवेकी तथा सम्पूर्ण ज्ञान से शून्य और नष्ट हुआ ही समझो। ॥३.३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ॥३.३३॥

सदृशम् , चेष्टते, स्वस्याः , प्रकृतेः, ज्ञानवान्, अपि ।
प्रकृतिम्, यान्ति, भूतानि, निग्रहः, किम्, करिष्यति ॥

समस्त प्राणी अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं अर्थात अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करते हैं। ज्ञानवान् मनुष्य भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें हठपूर्वक प्रकृति को रोकने से क्या फल प्राप्त होगा। ॥३.३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ॥३.३४॥

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे, राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोः, न, वशम्, आगच्छेत्, तौ, हि, अस्य, परिपन्थिनौ ॥

इन्द्रियों के अपने अपने विषयों मे राग और द्वेष[12] स्वाभाव से निश्चित हैं । मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए क्योंकि राग-द्वेष दोनों ही मनुष्य के कल्याण मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले महान् शत्रु हैं। ॥३.३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ॥३.३५॥

[12] अनुकूल परिस्थिति मे राग, प्रतिकूल परिस्थिति मे द्वेष

श्रेयान्, स्व-धर्मः, वि-गुणः, पर-धर्मात्, सु-अनुष्ठितात् ।
स्व-धर्मे, निधनम्, श्रेयः, पर-धर्मः, भयावहः ॥

अच्छी प्रकार आचरण में लाए हुए दूसरे के धर्म के अपेक्षा गुणहीन दोषयुक्त स्वधर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्म में तो मर जाना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय प्रदान करने वाला है। ॥३.३५॥

काम के निग्रह का विषय

अर्जुन उवाचः

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ॥३.३६॥

अथ, केन, प्रयुक्तः, अयम् , पापम् , चरति, पूरुषः।
अनिच्छन्, अपि, वार्ष्णेय बलात्, इव, नियोजितः ॥

अर्जुन बोले :

हे कृष्ण! कृपया यह बताएं की मनुष्य का ऐसा कौन सा शत्रु है जो मनुष्य की इच्छा के विपरीत, बलपूर्वक, उसको पाप में प्रेरित करता है। ॥३.३६॥

श्रीभगवानुवाच :

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ ॥३.३७॥

कामः, एषः, क्रोधः, एषः, रजः-गुण-समुद्भवः ।
महा-अशनः, महा-पाप्मा, विद्धि, एनम्, इह, वैरिणम् ॥

श्री भगवान बोले :-

रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खाने वाला अर्थात भोगों से कभी तृप्त न होने वाला और बड़ा पापी है। इसको ही तुम इस विषय (आत्म उन्नति के पथ) में शत्रु जानों। ॥३.३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ॥३.३८॥

धूमेन, आव्रियते, वह्निः, यथा, आदर्शः, मलेन, च ।
यथा, उल्बेन, आवृतः, गर्भः, तथा, तेन, इदम् , आवृतम् ॥

जिस प्रकार अग्नि, धुएँ से ढक जाती है तथा दर्पण, मैल अथवा धूल से ढक जाता है तथा गर्भ अपने सूक्ष्म आवरण से ढका रहता है, ठीक वैसे ही यह ज्ञान काम से ढका रहता है। ॥३.३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ॥३.३९॥

आवृतम् , ज्ञानम् , एतेन, ज्ञानिनः, नित्य-वैरिणा।
काम-रूपेण, कौन्तेय, दुष्पूरेण, अनलेन, च ॥

और हे कुन्तीपुत्र ! ज्ञानी के नित्य शत्रु, इस कामरूप जिसका अग्नि के समान तृप्त होने अंत्यंत कठिन है, से ज्ञान ढका हुआ है। ॥३.३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ॥३.४०॥

इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिः, अस्य, अधिष्ठानम् , उच्यते ।
एतैः, विमोहयति, एषः, ज्ञानम् , आवृत्य, देहिनम् ॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि- ये सब काम के वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ही विवेक ज्ञान को ढककर, देहाभिमानी जीव को मोहित करता है। ॥३.४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ॥३.४१॥

तस्मात्, त्वम्, इन्द्रियाणि, आदौ, नियम्य, भरत-ऋषभ ।
पाप्मानन्, प्रजहि, हि, एनम्, ज्ञानविज्ञान-नाशनम् ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इसलिए पहले तुम इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले सम्पूर्ण पापों के इस मूल इस काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डालो। ॥३.४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ॥३.४२॥

इन्द्रियाणि, पराणि, आहुः, इन्द्रियेभ्यः, परम्, मनः ।
मनसः, तु, परा, बुद्धिः, यः, बुद्धेः, परतः, तु, सः ॥

श्रुतियों का कहना हैं की इन्द्रियां स्थूल शरीर की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है। मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है वह आत्मा है। ॥३.४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्धवा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ॥३.४३॥

एवम्, बुद्धेः, परम्, बुद्ध्वा, संस्तभ्य, आत्मानम्, आत्मना।

जहि, शत्रुम , महाबाहो, काम-रूपम्, दुर्-असदम् ॥

हे महाबाहो! इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से श्रेष्ठ जानकार और निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा मन को वश में करके तुम इस कामरूप दुर्जय शत्रु का वध कर दो। ॥३.४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का कर्म योग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ चतुर्थोध्यायः ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः

चतुर्थ अध्यायः ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

सगुण भगवान का प्रभाव और कर्मयोग का विषय

श्री भगवानुवाच :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ ॥४.१॥

इमम्, विवस्वते, योगम्, प्रोक्तवान्, अहम्, अव्ययम् ।
विवस्वान्, मनवे, प्राह, मनुः, इक्ष्वाकवे, अब्रवीत् ॥

श्री भगवान बोले :

मैंने इस अविनाशी, निश्चित फलदायक, योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा था। ॥४.१॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ ॥४.२॥

एवम्, परम्परा-प्राप्तम्, इमम्, राज-ऋषयः, विदुः ।
सः, कालेन, इह, महता, योगः, नष्टः, परंतप ॥

हे परन्तप अर्जुन! इस परम्परा[13] से प्राप्त हुए योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद धर्मनाशी समय के प्रभाव से यह योग इस पृथ्वी लोक से लुप्त हो गया। ॥४.२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ॥४.३॥

सः, एव, अयम्, मया, ते, अद्य, योगः, प्रोक्तः, पुरातनः ।
भक्तः, असि, मे, सखा, च, इति, रहस्यम्, हि, एतत्, उत्तमम् ॥

तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो, इसलिए, वही, संप्रदाय के अभाव से लुप्त, यह पुरातन योग आज मैंने तुमसे कहा है क्योंकि यह अत्यंत उत्तम गोपनीय रहस्य है अर्थात अनधिकारी को कहने योग्य नहीं है। ॥४.३॥

अर्जुन उवाच :

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ॥४.४॥

अपरम्, भवतः, जन्म, परम्, जन्म, विवस्वतः ।
कथम्, एतत्, विजानीयाम्, त्वम्, आदौ, प्रोक्तवान्, इति ॥

अर्जुन बोले :

आपका जन्म हुए तो अभी थोडा ही समय हुआ है और सूर्य को उत्पन्न हुए तो बहुत समय बीत चुका है अर्थात आपका जन्म अल्पकालीन है तथा सूर्य

[13] गुरु शिष्य परंपरा

का जन्म बहुकालीन - कल्प के आदि में हो चुका था। अत: मैं इस बात को कैसे समूझँ कि आप ने ही सृष्टि के आरम्भ में सूर्य से यह योग कहा था? ॥४.४॥

श्रीभगवानुवाच:

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ॥४.५॥

बहूनि, मे, व्यतीतानि, जन्मानि, तव, च, अर्जुन ।
तानि, अहम्, वेद, सर्वाणि, न, त्वम्, वेत्थ, परंतप ॥

श्री भगवान बोले :

हे परंतप अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ , किन्तु तुम नहीं जानते ॥४.५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ॥४.६॥

अजः, अपि, सन्, अव्यय-आत्मा, भूतानाम्, ईश्वरः, अपि, सन् ।
प्रकृतिम्, स्वाम्, अधिष्ठाय, सम्भवामि, आत्म-मायया ॥

मैं अजन्मा और अविनाशी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर और कर्मों के वश में न होते हुए भी अवतार रूप से प्रकट होते समय अपनी योगमाया को वश में लाकर उसी सत्वगुणी माया द्वारा देहधारी की तरह जन्म लेता हूँ। ॥४.६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ॥४.७॥

यदा, यदा, हि, धर्मस्य, ग्लानिः, भवति, भारत ।

अभ्युत्थानम्, अधर्मस्य, तदा, आत्मानम्, सृजामि, अहम् ॥

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात माया के द्वारा अवतार रूप से प्रकट होता हूँ। ॥४.७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ॥४.५॥

परित्राणाय, साधूनाम्, विनाशाय, च, दुष्कृताम् ।
धर्म-संस्थापन-अर्थाय, संभवामि, युगे, युगे ॥

मैं साधु पुरुषों का रक्षा और पापियों का विनाश करने के लिए तथा युगानुसार धर्म को अच्छी तरह से प्रतिष्ठित करने के लिए, मैं प्रत्येक युग में जन्म लेता हूँ। ॥४.५॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
त्यक्तवा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ॥४.९॥

जन्म, कर्म, च, से, दिव्यम्, एवम्, यः, वेत्ति, तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा, देहम्, पुनः, जन्म, न, एति, माम्, एति, सः, अर्जुन ॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात अलौकिक हैं-जो मनुष्य इनको तत्व से जान लेता है, वह शरीर को त्याग कर पुनर्जन्म नहीं लेता, अपितु मुझे ही प्राप्त होता है। ॥४.९॥

वीतरागभय क्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ ॥४.१०॥

वीत-राग-भय-क्रोधः, मत्-मयाः, माम्, उपाश्रिताः।

बहवः, ज्ञान-तपसा, पूताः, मत-भावम्, आगताः ॥

आसक्ति, भय तथा क्रोध से रहित, मुझ में अनन्य प्रेमपूर्वक रूप से स्थित, मेरी शरण लिए हुए अनेक योगी ज्ञान रूप तप के द्वारा पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं अर्थात मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं । ॥४.१०॥

ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ॥४.११॥

ये, यथा, माम्, प्रपद्यन्ते, तान्, तथा, एच, भजामि, अहम् ।
मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः ॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य जिस प्रकार से मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार से साधना का फल देता हूँ। हे अर्जुन! मनुष्यगण सभी प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। ॥४.११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ ॥४.१२॥

काङ्क्षन्तः, कर्मणाम्, सिद्धिम्, यजन्ते, इह, देवताः ।
क्षिप्रम्, हि, मानुषे, लोके, सिद्धिः, भवति, कर्म-जा ॥

इस मनुष्य लोक में कर्मों की सिद्धि की कामना करने वाले लोग देवताओं का पूजन करते हैं क्योंकि मनुष्य लोक मे कर्ममय फलसिद्धि शीघ्र प्राप्त हो जाती है। ॥४.१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥ ॥४.१३॥

चातुर-वर्ण्यम्, मया, सृष्टम्, गुण-कर्म-विभागशः ।

तस्य, कर्तारम, अपि, माम्, विद्धि, अकर्तारम्, अव्ययम् ॥

चार वर्णों की रचना, गुण और कर्मों के विभाग मेरे द्वारा ही की गयी है। किन्तु इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तुम वास्तव में अकर्ता और अविकारी ही समझो ॥४.१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ ॥१४॥

न, माम्, कर्माणि, लिम्पन्ति, न,मे, कर्म-फले, स्पृहा ।
इति, मान्, यः, अभिजानाति, कर्मभिः, न, सः, बध्यते ॥

मैं कर्मों में लिप्त नहीं होता और न ही कर्मफल में मेरी इच्छा है, ऐसा जो मुझे जानता है वह कर्मबन्धन में बद्ध नहीं होता अर्थात वह कर्मों से कभी नहीं बँधता। ॥४.१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ ॥४.१५॥

एवम् , ज्ञात्वा, कृतम्, कर्म, पूर्वैः, अपि, मुमुक्षुभिः ।
कुरु, कर्म, एव, तस्मात्, त्वम्, पूर्वैः, पूर्वतरम्, कृतम् ॥

पूर्वकाल में मोक्षार्थियों ने भी आत्मा के ऐसे ही निर्लिप्त स्वरुप को जानकार कर्म किया था, तथा उनसे भी प्राचीन मोक्षार्थियों ने भी कर्म किया था, अतः तुम भी कर्म ही करो। ॥४.१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ ॥४.१६॥

किम्, कर्म, किम् , अकर्म, इति, कवयः, अपि, अत्र, मोहिताः।

तत्, ते, कर्म, प्रवक्ष्यामि, यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात् ॥

कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस प्रकार इसका निर्णय करने में बुद्धिमान पुरुष भी भ्रमित हो जाते हैं, इसलिए, मैं, तुमसे कर्म का यथार्थ तत्व कहूँगा, जिसको जान कर तुम अशुभ संसार बंधनों से मुक्त हो जाओगे। ॥४.१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ ॥४.१७॥

कर्मणः, हि, अपि, बोद्धव्यम्, बोद्धव्यम्, च, विकर्मणः ।
अकर्मणः, च, बोद्धव्यम्, गहना, कर्मणः, गतिः ॥

कर्म का तत्व भी जानना चाहिए, विकर्म का स्वरुप भी समझना चाहिए और अकर्म का तत्व भी जानना चाहिए, क्योंकि इन कर्म, विकर्म और अकर्म का तत्व बहुत ही गहरा है अर्थात जल्दी से समझ आने वाला नहीं है। ॥४.१७॥

कर्मण्य कर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ ॥४.१८॥

कर्मणि, अकर्म, यः, पश्येत्, अकर्मणि, च, कर्म, यः ।
सः, बुद्धिमान्, मनुष्येषु, सः, युक्तः, कृत्स्न-कर्म-कृत् ॥

जो अकर्म मे कर्म और अकर्म मे कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान, योगयुक्त तथा सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है। ॥४.1८॥

योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ ॥४.१९॥

यस्य, सर्वे, समारम्भाः, काम-संकल्प-वर्जिताः ।
ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणम्, तम्, आहुः, पण्डितम्, बुधाः ॥

जिसके समस्त कर्म फल की इच्छा और कर्ताव्याभिमान से रहित हैं, तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म हो गए हैं, उस महापुरुष को विद्वान जन 'पंडित' कहते हैं। ॥४.१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ ॥४.२०॥

त्यक्त्वा, कर्म-फल-आसङ्गम्, नित्य-तृप्तः, निर्-आश्रयः।
कर्मणि, अभिप्रवृत्तः, अपि, न, एव, किञ्चित्, करोति, सः ॥

जो कर्म और फल की आसक्ति छोड़ कर नित्यतृप्त[14] और निराश्रय[15] रहता है, वह कर्मों को भलीभांति करता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता। ॥४.२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ॥४.२१॥

निर्-आशीः, यत-चित्त-आत्मा, त्यक्त-सर्व-परिग्रहः ।
शारीरम्, केवलम्, कर्म, कुर्वन्, न, आप्नोति, किल्बिषम् ॥

जो तृष्णाशून्य[16] है, जिसने अपने मन और इन्द्रियों को वश में कर लिया है और जिसने समस्त भोगों की सामग्री का परित्याग कर दिया है, ऐसा

---

[14] समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग
[15] संसार के आश्रय से रहित
[16] जिसकी सांसारिक सुखों की तृष्णा समाप्त हो चुकी है

आशारहित मनुष्य केवल शरीर-संबंधी कर्म करता हुआ भी सांसारिक बंधन को प्राप्त नहीं होता। ॥४.२१॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ ॥४.२२॥

यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टः, द्वन्द्व-अतीतः, वि-मत्सरः।
समः, सिद्धौ, असिद्धौ, च, कृत्वा, अपि, न, निबध्यते ॥

जो बिना प्रयत्न के अपने-आप प्राप्त हुए लाभ में सदा संतुष्ट रहता है, जो ईर्ष्या शून्य है, जो हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से दूर हो गया है तथा सिद्धि और असिद्धि में समान रहता है, वह मनुष्य केवल शरीर-संबंधी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता। ॥४.२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ ॥४.२३॥

गत-सङ्गस्य, मुक्तस्य, ज्ञान-अवस्थित-चेतसः।
यज्ञाय, आचरतः, कर्म, समग्रम् प्रविलीयते ॥

फलासक्ति से रहित, राग द्वेष से मुक्त, ज्ञान में स्थित तथा यज्ञभाव से कर्म करने वाले पुरुष के सभी कर्म अपने फल के सहित सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं। ॥४.२३॥

फलसहित पृथक-पृथक यज्ञों का कथन

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ ॥४.२४॥

ब्रह्म, अर्पणम्, ब्रह्म, हविः, ब्रह्म-अग्नौ, ब्रह्मणा, हुतम् ।
ब्रह्म, एव, तेन, गन्तव्यम्, ब्रह्म-कर्म-समाधिना ॥

इस महान यज्ञ में अर्पण अर्थात हवन की क्रिया ब्रह्मरूप है, हवन का द्रव्य ब्रह्मरूप है, हवन की अग्नि ब्रह्मरूप है और हवन कर्ता ब्रह्मरूप है। इस प्रकार जिसकी कर्म मे ब्रह्मदृष्टि है, उसके लिए उससे प्राप्त होने वाला फल भी ब्रह्म ही है। ॥४.२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ ॥४.२५॥

दैवम्, एव, अपरे, यज्ञम्, योगिनः, पर्युपासते ।
ब्रह्म-अग्नौ, अपरे, यज्ञम्, यज्ञेन, एव, उपजुह्वति ॥

दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं[17] और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्नि में अभेद दर्शनरूप यज्ञ द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं।[18] ॥४.२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ ॥४.२६॥

श्रोत्र-आदीनि, इन्द्रियाणि, अन्ये, संयम-अग्निषु, जुह्वति ।
शब्द-दीन्, विषयान्, अन्ये, इन्द्रय-अग्निषु, जुह्वति ॥

---

[17] अर्थात देव यज्ञ का आयोजन करते हैं। जिसके द्वारा इंद्र इत्यादि देवताओं का यजन किया जाता है उसे देव यज्ञ कहते हैं।
[18] अग्नि को परमात्मा का रूप मान कर उसमे ब्रह्मरूप का दर्शन करते हैं।

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों को संयम रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं। ॥४.२६॥[19]

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ॥४.२७॥

सर्वाणि, इन्द्रिय-कर्माणि, प्राण-कर्माणि, च, अपरे ।
आत्म-संयम-योग-अग्नौ, जुह्वति, ज्ञान-दीपिते ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्म संयम योगरूप अग्नि में हवन किया करते हैं।[20] ॥४.२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ ॥४.२८॥

द्रव्य-यज्ञाः, तपः-यज्ञाः, योग-यज्ञाः, तथा, अपरे।
स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाः, च, यतयः, संशित-व्रताः ॥

---

[19] कामना रहित होकर श्रोत्र अथवा शब्द आदि इन्द्रियों से शास्त्रों को या सुनते या पढ़ते हैं – यही उनका यज्ञ है।
[20] सच्चिदानंदघन परमात्मा के अलावा अन्य किसी का भी न चिन्तन करना तथा 'मैं' को विनष्ट कर देना।

कई पुरुष द्रव्य यज्ञ[21] करने वाले हैं, कितने ही तपस्या यज्ञ[22] करने वाले हैं तथा दूसरे कितने ही योग यज्ञ[23] करने वाले हैं, कितने ही स्वाध्याय यज्ञ[24] करते हैं, कोई ज्ञानयज्ञ[25] करने वाले हैं और कई यत्नशील पुरुष तीव्र व्रतों[26] का आचरण करते हैं। ॥४.२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ ॥४.२९॥

अपाने, जुह्वति, प्राणम्, प्राणे, अपानम्, तथा, अपरे।
प्राण-अपान-गती, रुद्ध्वा, प्राणायाम-परायणाः ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ॥४.३० ॥

अपरे, नियत-आहाराः, प्राणान्, प्राणेषु, जुह्वति।
सर्वे, अपि, एते, यज्ञ-विदः, यज्ञ-ज्ञपित-कल्मषाः ॥

दूसरे कितने ही योगीजन अपान वायु में प्राण वायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणायाम परायण पुरुष प्राण और अपान की

---

[21] द्रव्यत्याग – दान कर्म, धर्म कार्यों मे सहयोग।
[22] तपस्या, कृच्छ- चान्द्रायण आदि तप।
[23] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि आदि योग के अंगों का अनुष्ठान।
[24] विधि पूर्वक वेदाभ्यास।
[25] युक्ति पूर्वक वेद के तात्पर्य का निश्चय।
[26] यत्नशील संशिव्रत – अत्यंत दृढ संकल्प जैसे झूठ नहीं बोलूँगा इत्यादि।

गति को रोककर प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं।[27] ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं। ॥४.२९ - ४.३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ॥४.३१॥

यज्ञ-शिष्ट-अमृत-भुजः, यान्ति, ब्रह्म, सनातनम् ।
न, अयम्, लोकः,अस्ति, अ-यज्ञस्य, कुतः, अन्यः, कुरु-सत्तम ॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। और यज्ञ न करने वाले मनुष्य के लिए तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है? ॥४.३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ॥४.३२॥

एवम्, बहु-विधाः, यज्ञाः, वितताः, ब्रह्मणः, मुखे ।
कर्म-जान्, विद्धि, तान्, सर्वान्, एवम्, ज्ञात्वी, विमोक्षयसे ॥

इसी प्रकार और भी अनेकों प्रकार के यज्ञ वेद में विस्तार से कहे गए हैं। इन सबकी उत्पत्ति कर्म में है और ऐसा जानकर तुम मुक्त हो जाओगे। ॥४.३२॥

---

[27] पूरक, रेचक, कुम्भक, अंत:कुम्भक, बाह्य कुम्भक आदि प्राणायाम साधनों से प्राणों का हवन करते हैं।

ज्ञान की महिमा

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ॥४.३३॥

श्रेयान्, द्रव्य-मयात्, यज्ञात्, ज्ञान-यज्ञः, परंतप ।
सर्वम्, कर्म, अखिलम्, पार्थ, ज्ञाने, परिसमाप्यते ॥

हे परंतप अर्जुन! संसार रुपी फल प्राप्त करानेवाले द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है क्योंकि समस्त श्रोत[28] और स्मार्त[29] कर्म ज्ञान में ही जा कर समाप्त होते हैं। ॥४.३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ ॥४.३४॥

तत्, विद्धि, प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति, ते, ज्ञानम्, ज्ञानिनः, तत्त्व-दर्शिनः ॥

उस ज्ञान को तुम आचार्यों के पास जाकर उन्हें भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करके, उनकी सेवा करने से और अनेक विषय सम्बन्धी प्रश्न करने से जान सकते हो। वह परमात्म तत्व को भलीभाँति जानने वाले ज्ञानी और आचार्य तुम्हे उस तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे। ॥४.३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भुतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ॥४.३५॥

---

[28] 'श्रौत' श्रौत सूत्र (वेदों) पर आधारित अर्थात वेद विहित कर्म श्रोत कर्म हैं।
[29] स्मृति से विहित कर्म स्मार्त कर्म हैं।

यत्, ज्ञात्वा, न, पुनः, मोहम्, एवम्, यास्यसि, पाण्डव ।
येन, भूतानि, अशेषेण, द्रक्ष्यसि, आत्मनि, अथो, मयि ॥

हे पांडव! उस दिव्य तत्वदर्शी ज्ञान को जानकार तुम फिर इस मोह को प्राप्त नहीं करोगे तथा उसके द्वारा तब सम्पूर्ण प्राणियों को अपनी आत्मा में और मुझ में भी अभेद रूप से देख सकोगे। ॥४.३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ॥४.३६॥

अपि, चेत्, असि, पापेभ्यः, सर्वेभ्यः, पापकृत्तमः ।
सर्वम्, ज्ञान-सवेन, एव, वृजिनम्, सन्तरिष्यसि ॥

यदि तुम समस्त पापियों से भी अधिक पापी हो तब भी तुम ज्ञान रुपी नौका से ही पाप रुपी संसार को पार कर जाओगे। ज्ञान की महिमा ही ऐसी है। ॥४.३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ॥४.३७॥

यथी, एधांसि, समिद्धः, अग्निः , भस्मसोत्, कुरुते, अर्जुन ।
ज्ञान-अग्निः, सर्व-कर्माणि, भस्मसात्, कुरुते, तथा ॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वल्लित अग्नि, ईंधन को भस्म कर देता है उसी प्रकार ज्ञान रुपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। ॥४.३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ॥४.३८॥

न, हि, ज्ञानेन, सदृशम्, पवित्रम्, इह, विद्यते।

तत्, स्वयम्, योग-संसिद्धः, कालेन, आत्मनि, विन्दति ॥

इन वेदों मे अथवा लोक व्यवहार में ज्ञान के समान पवित्र कोई अन्य वस्तु नहीं है। उस ज्ञान को कर्मयोग के द्वारा बहुत काल मे योग्यता को प्राप्त हुआ मनुष्य स्वयं अपने शुद्ध अंत:करण में ही प्राप्त कर लेता है। ॥४.३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्धवा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ॥४.३९॥

श्रद्धावान्, लभते, ज्ञानम्, तत्परः, संयत-इन्द्रियः ।
ज्ञानम्, लब्ध्वी, पराम्, शान्तिम्, अचिरेण, अधिगच्छति ॥

श्रद्धावान, ज्ञान प्राप्ति के साधनों में तत्पर, तथा जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है तथा ज्ञान को प्राप्त कर, वह शीघ्र ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त करता है। ॥४.३९॥

अज्ञश्चश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ॥४.४०॥

अज्ञः, च, अश्रद्दधानः, च, संशय-आत्मा, विनश्यति ।
न, अयम्, लोकः, अस्ति, न, परः, न, सुखम्, संशय-आत्मनः ॥

अज्ञानी, श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य नष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है। ॥४.४०॥

योगसन्नयस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ॥४.४१॥

योग-संन्यस्त-कर्माणम्, ज्ञान-संछिन्न-संशयम् ।
आत्मवन्तम्, न, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनंजय ॥

हे धनंजय! जिसने कर्मयोग के द्वारा जिसने अपने समस्त कर्मों का परमात्मा को अर्पण कर दिया है और ज्ञान से जिसके संदेह का पूर्णतया विनाश हो गया है, ऐसे आत्मवान, शुद्ध अन्तःकरण वाले मनुष्य कभी कर्मों में नहीं बंधते। ॥४.४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ॥४.४२॥

तस्मात्, अज्ञान-सम्भूतम्, हृत्-स्थम्, ज्ञान-असिना, आत्मनः।
छित्त्वा, एनम्, संशयम्, योगम्, आतिष्ठ, उत्तिष्ठ, भारत ॥

अतः हे भारत! अज्ञान से उत्पन्न और हृदय मे स्थित इस संशय को[30] अपनी ज्ञानरूपी तलवार से काटकर निष्काम कर्मयोग का आचरण करो और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ। ॥४.४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यास योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का ज्ञानकर्मसंन्यास नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

30 'युद्ध करूँ अथवा ना करूँ'

ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ पञ्चमोध्यायः संन्यासयोगः

पंचम अध्याय: संन्यासयोग

अर्जुन उवाच :

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ ॥५.१॥

संन्यासम्, कर्मणाम्, कृष्ण, पुनः, योगम्, च, शंससि।
यत्, श्रेयः, एतयोः, एकम्, तत्, मे, ब्रूहि, सुनिश्चितम् ॥

अर्जुन बोले :

हे कृष्ण! आप ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता बतलाते हुए कर्मों के त्याग की भी प्रशंसा करते हो और पुन: कर्मयोग को भी उत्तम कह रहे हो। अतः दोनों में से जो एक श्रेष्ठतर हो उस एक का ही अच्छी तरह निश्चय करके मुझे उपदेश दीजिये। ॥५.१॥

श्रीभगवानुवाच:

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ ॥५.२॥

संन्यासः, कर्मयोगः, च, निःश्रेयसकरौ, उभौ ।
तयोः, तु, कर्म-संन्यासात्, कर्म-योगः, विशिष्यते ॥

श्री भगवान बोले :

कर्म संन्यास और कर्मयोग- ये दोनों ही कल्याणकारी हैं, परन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है। ॥५.२॥

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ॥५.३॥

ज्ञेयः, सः, नित्य-संन्यासी, यः, न, द्वेष्टि, न, काङ्क्षति ।
निर्-द्वन्द्वः, हि, महाबाहो, सुखम्, बन्धात्, प्रमुच्यते ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी के प्रति आसक्ति रखता है, उस कर्मयोगी को सदा संन्यासी ही समझना चाहिए क्योंकि राग-द्वेषादि द्वंद्वों से रहित होने के वह सुगमता से संसार बंधन से मुक्त हो जाता है। ॥५.३॥

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ॥५.४॥

सांख्य-योगौ, पृथक्, बालाः, प्रवदन्ति, न, पण्डिताः ।
एकम्, अपि, आस्थितः, सम्यक्, उभयोः, विन्दते, फलम् ॥

अल्पज्ञ व्यक्ति ही संन्यास और कर्मयोग को विरुद्ध फल देनेवाला कहते हैं, ज्ञानी व्यक्ति ऐसा नहीं कहते। इनमे से किसी भी एक मार्ग का भली भांति आचरण करता हुआ मनुष्य दोनों का ही फल[31] प्राप्त कर सकता है। ॥५.४॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्यौगैरपि गम्यते ।

---

[31] मोक्षरूप फल

एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ॥५.५॥

यत्, सांख्यैः, प्राप्यते, स्थानम्, तत्, योगैः, अपि, गम्यते ।
एकम्, सांख्यम्, च, योगम्, च, यः, पश्यति, सः, पश्यति॥

ज्ञान योगियों द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, वही कर्मयोगियों को भी प्राप्त होता है। इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को एकरूप में एक देखता है, वही यथार्थ देखता है। ॥५.५॥

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ॥५.६॥

संन्यासः, तु, महाबाहो, दुःखम्, आप्तुम्, अयोगतः ।
योग-युक्तः, मुनिः, ब्रह्म, न, चिरेण, अधिगच्छति ॥

हे महाबाहो! कर्मयोग के बिना हठपूर्वक किया हुआ सन्यास दुःख प्राप्त करने के लिए ही होता है। योगयुक्त होकर सन्यास करने वाला मुनि परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। ॥५.६॥

सांख्ययोगी और कर्मयोगी के लक्षण तथा उनकी महिमा

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ॥५.७॥

योग-युक्तः, विशुद्ध-आत्मा, विजित-आत्मा, जित-इन्द्रियः।
सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा, कुर्वन्, अपि, न, लिप्यते ॥

कर्मयोगयुक्त मनुष्य विशुद्ध चित्त[32], संयत शरीर, जितेन्द्रिय[33] और सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मभाव[34] से देखनेवाला होने के कारण कर्म करने पर भी उसमे उसमें लिप्त नहीं होता। ॥५.७॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपंश्वसन् ॥ ॥५.८॥

न, एव, किञ्चित्, करोमि, इति, युक्तः, मन्येत, तत्त्व-वित् ।
पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अनन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन् ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ॥ ५.९ ॥

प्रलपन्, विसृजन्, गृहुन्, उन्मिषन्, निमिषन्, अपि।
इन्द्रियाणि, इन्द्रिय- अर्थेषु, वर्तन्ते, इति, धारयन् ॥

परमार्थ तत्व को जानने वाला योगयुक्त मनुष्य देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, भोजन करते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्याग करते, ग्रहण करते तथा आँख खोलते और बंद करते हुए भी इन्द्रियां- इन्द्रियों के व्यापर में लगी हुई हैं, ऐसा निश्चय रखकर 'मैं कुछ नही नहीं करता' ऐसा मानता है। ॥५.८-५.९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ॥५.१०॥

ब्रह्मणि, आधाय, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, करोति, यः ।

---

[32] शुद्ध मन वाला अथवा जिसका मन अपने वश में है
[33] समस्त इन्द्रियों को जीतने वाला
[34] सभी की आत्मा को परमात्मा रूप समझ कर अपनी आत्मा के रूप में देखना

लिप्यते, न, सः, पापेन, पद्म-पत्रम्, इव, अम्भसा ॥

जो मनुष्य फल की इच्छा छोड़ कर, परमात्मा को अर्पण करते हुए कर्म करता है, वह स्थिर पुरुष जल में कमल के पत्ते की भांति पाप से लिप्त नहीं होता। ॥५.१०॥

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ॥५.११॥

कायेन, मनसा, बुद्ध्या, केवलैः, इन्द्रियैः, अपि ।
योगिनः, कर्म, कुर्वन्ति, सङ्गम्, त्यक्त्वा, आत्म-शुद्धये ॥

कर्मयोगी फल की आसक्ति छोड़ कर, इन्द्रिय, ममता से रहित शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा भी कर्म करते रहते हैं। ॥५.११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ॥५.१२॥

युक्तः, कर्म-फलम्, त्यक्त्वा, शान्तिम्, आप्नोति, नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः, काम-कारेण, फले, सक्तः, निबध्यते ॥

कर्मयोगी कर्मों के फल को त्याग कर, भगवत्प्राप्ति स्वरूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामना की प्रेरणा से, फल में आसक्त होकर, कर्मों मे बँध जाता है। ॥५.१२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ ॥५.१३॥

सर्व-कर्माणि, मनसा, संन्यस्य, आस्ते, सुखम्, वशी।
नव-द्वारे, पुरे, देही, न, एव, कुर्वन्, न, कारयन् ॥

ऐसा योग का आचरण करने वाला, जितेन्द्रिय योगी पुरुष मन से समस्त कर्मों का त्याग कर नौं द्वारों वाले शरीर में[35], कुछ भी न करता ना ही करवाता हुआ भी आनंदपूर्वक रहता है। ॥५.१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते । ॥५.१४॥

न, कतृत्वम्, न, कर्माणि, लोकस्य, सृजति, प्रभुः।
न, कर्म-फल-संयोगम्, स्वभावः, तु प्रवर्तते ॥

देह का स्वामी – परमात्मा रूप आत्मा मनुष्यों के न तो कर्तापन की, न कर्मों की और न कर्मफल के सम्बन्ध की ही रचना करता है।, केवल प्रकृति[36] ही जीव के स्वाभाव अनुसार द्वारा सब कर्म करवाती है। ॥५.१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ ॥५.१५॥

न, आदत्ते, कस्यचित्, पापम्, न, च, एव, सुकृतम्, विभुः।
अज्ञानेन, श्रावृतम्, ज्ञानम्, तेन, मुह्यन्ति, जन्तवः ॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न तो किसी के पाप को और न पुण्यों को ही ग्रहण करता है। अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है और इसी से जीव मोह में पड़ जाते हैं। प्रकृति के इन सब खेलों से निर्लिप्त आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं हैं। ॥५.१५॥

---

[35] शरीर के नौ द्वार – दो नेत्र, दो नासिका छिद्र, दो कान छिद्र, एक मुख, गुदा तथा उपस्थ
[36] माया

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ ॥५.१६॥

ज्ञानेन, तु, तत्, अज्ञानम्, येषाम्, नाशितम्, आत्मनः।
तेषाम्, आदित्यवत्, ज्ञानम्, प्रकाशयति, तत्परम् ॥

परन्तु जिनके उस अज्ञान का आत्मा के ज्ञान से नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा और परमात्मतत्व को प्रकाशित कर देता है। ॥५.१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ ॥५.१७॥

तत् -बुद्धयः, तत् -आत्मानः, तत्-निष्ठाः, तत्-परायणाः।
गच्छन्ति, अ-पुनरावृत्तिम्, ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः ॥

जिनके अंत: करण की बुद्धि परमात्मा मे ही रहती है, जो परमात्मा को ही अपने आत्मा समझते हैं, परमात्मा ही जिनका परम आश्रय स्थान हैं, ऐसे महात्मागण ज्ञान द्वारा निष्पाप होकर उस परमपद को प्राप्त करते हैं जहाँ से दुखमय संसार में उन्हें पुनः लौटना नहीं पड़ता। ॥५.१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ॥५.१८॥

विद्या-विनय-संपन्ने, ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि ।
शुनि, च, एव, श्वपाके, च, पण्डिताः, सम-दर्शिनः ॥

विद्या और विनय से संपन्न वह ज्ञानीजन ब्राह्मण में, गौ में, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी ब्रह्म का ही दर्शन करने वाले होते हैं। ॥५.१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ ॥५.१९॥

इह, एव, तैः, जितः, सर्गः, येषाम्, साम्ये, स्थितम्, मनः ।
निदषम्, हि, समम्, ब्रह्म, तस्मात्, ब्रह्मणि, ते, स्थिताः ॥

जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, अतः वे ब्रह्म में ही स्थित हो जाते हैं। ॥५.१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ ॥५.२०॥

न, प्रहृष्येत्, प्रियम्, प्राप्य, न, उद्विजेत्, प्रोप्य, च,अप्रियम्।
स्थिर-बुद्धिः, असंमूढ़ः , ब्रह्मवित्, ब्रह्मणि, स्थितः ॥

जो मनुष्य प्रिय को प्राप्त कर हर्षित नहीं होते और अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होते, वह स्थिरबुद्धि, मोह हीन तथा ब्रह्मवेत्ता मनुष्य ब्रह्म में एकीभाव से नित्य स्थित है। ॥५.२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ ॥५.२१॥

बाह्य-स्पशेषु, अ-सक्त-आत्मा, विन्दति, आत्मनि, यत्, सुखम् ।
सः, ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा, सुखम्, अक्षयम्, अश्नुते ॥

जिसका चित्त बाहर के विषयों में आसक्त नहीं है वह स्वच्छ अन्तःकरण वाला मनुष्य आत्मा में स्थित सात्विक आनंद को प्राप्त करता है। वह ब्रह्म में समाधि युक्त चित्त वाला मनुष्य अनंत आनन्द का अनुभव करता है। ॥५.२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ ॥५.२२॥

ये, दि, संस्पर्श-जाः, भोगाः, दुःख-योनयः, एव, ते ।
आदि-अन्त-वन्तः, कौन्तेय, न, तेषु, रमते, बुधः ॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन! इन्द्रियों और उनके विषयों के सम्बन्ध से जो भोग प्राप्त होते हैं, वे दुःख के ही उत्पन्न हैं तथा आदि और अंत से युक्त होने के कारण अनित्य हैं। अतः विवेकी पुरुष इन्द्रिय विषय सुखों में लिप्त नहीं होते। ॥५.२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ ॥५.२३॥

शक्नोति, इह, एव, यः, सोढुम्, प्राक्, शरीर-विमोक्षणात् ।
काम-क्रोध-उद्भवम्, वेगम्, स, युक्तः, सः, सुखी, नरः ॥

जो मनुष्य इस शरीर में, शरीर का नाश होने से पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सह सकता है, वही मनुष्य योगी है और वही सुखी है। ॥५.२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ॥५.२४ ॥

यः, अन्तः-सुखः, अन्तर -आरामः, तथा, अन्तर-ज्योतिः, एव, यः ।
सः, योगी, ब्रह्म-निर्वाणम्, ब्रह्म-भूतः, अधिगच्छति ॥

जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुख का अनुभव करता है, आत्मा में ही रमण करता है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान युक्त होने के कारण जो जो बाह्य विषयों की अपेक्षा से रहित स्वरुपभूत सुख की ही कामना करता है। वह परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त योगी ब्रह्मरूप शांति प्राप्त करता है। ॥५.२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ ॥५.२५॥

लभन्ते, ब्रह्म-निर्वाणम्, ऋषयः, क्षीण-कल्मषाः ।
छिन्न-द्वैधाः, यत-आत्मानः, सर्व-भूत-हिते, रताः ॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जिनके सब संशय ज्ञान द्वारा निवृत्त हो गए हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभाव से परमात्मा में स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता मनुष्य ब्रह्मरूप निर्वाण को प्राप्त करते हैं। ॥५.२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ ॥५.२६॥

काम-क्रोध-वियुक्तानाम्, यतीनाम्, यत-चेतसाम् ।
अभितः, ब्रह्म-निर्वाणम्, वर्तते, विदित-आत्मनाम् ॥

काम-क्रोध से रहित, संयत चित्त, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किए हुए उन ज्ञानी पुरुषों के लिए, जीवित रहते हुए और मृत्यु के पश्च्यात दोनों प्रकार से मुक्ति विद्यमान है । ॥५.२६॥

भक्ति सहित ध्यानयोग का वर्णन

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ ॥५.२७॥

स्पर्शान्, कृत्वा, बहिः, बाह्यान्, चक्षुः, च, एव, अन्तरे, भ्रुवोः ।
प्राण-अपानौ, समौ, कृत्वा, नासा-अभ्यन्तर-चारिणौ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ ॥५.२८॥

यत-इन्द्रिय-मनः-बुद्धिः, मुनिः, मोक्ष-परायणः ।
विगत-इच्छा-भय-क्रोधः, यः, सदा, मुक्तः, एच, सः ॥

बाहर के विषयों को बाहर ही रख कर अर्थात भोगों का चिन्तन न करता हुआ और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को समान करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि वश में हैं, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि जो इच्छा, भय और क्रोध से मुक्त हो मोक्ष साधना मे ही तत्पर रहता है, वह सदा मुक्त ही है। ॥५.२७ - ५.२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ ॥५.२९॥

भोक्तारम्, यज्ञ-तपसाम्, सर्व-लोक-महा-ईश्वरम्।
सुहृदम्, सर्व-भूतानाम्, ज्ञात्वा, माम्, शान्ति, ऋच्छति ॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों का सुहृद् अर्थात स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसे तत्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है। ॥५.२९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥५॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का कर्मसंन्यासयोग नामक पाँचवा अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ षष्ठोध्यायः आत्मसंयमयोगः

छठा अध्यायः आत्मसंयमयोग

कर्मयोग का विषय और योगारूढ़ पुरुष के लक्षण

श्रीभगवानुवाचः

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ ॥६.१॥

अनाश्रितः, कर्म-फलम्, कार्यम्, कर्म, करोति, यः ।
सः, संन्यासी, च, योगी, च, न, निर्-अग्निः, न, च, अ-क्रियः॥

श्री भगवान बोले :

जो मनुष्य कर्मफल की इच्छा न रख कर, अपने निहित कर्तव्य कर्म को करता है, वही सन्यासी है और वही योगी है। केवल निरग्नि – अग्निहोत्र श्रौत कर्मों को त्यागने वाला अथया अक्रिय – स्मार्त कर्मों को त्यागने वाला नहीं। ॥५.१॥

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ॥६.२॥

यम्, संन्यासम्, इति, प्राहुः, योगम्, तम्, विद्धि, पाण्डव ।

न, हिं, अ-संन्यस्त-संकल्पः, योगी, भवति, कश्चन ॥

हे अर्जुन! जिसे श्रुतियां संन्यास कहती हैं, उसे तुम योग ही समझो क्योंकि कर्मफल की आकांक्षा का त्याग किए बिना कोई भी मनुष्य योगी नहीं हो सकता। ॥६.२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ॥६.३॥

आरुरुक्षोः, मुनेः, योगम्, कर्म, कारणम्, उच्यते।
योग-आरूढस्य, तस्य, एव, शमः, कारणम्, उच्यते ॥

जो भावी योगी अंत:करण के शुद्धि रूप योग पर आरूढ़ होना चाहता है उसके लिए साधन कर्म बताया गया है तथा उसी के लिए योग मार्ग में आगे बढ़ने का साधन कर्मों का सन्यास[37] एवं सर्वसंकल्पों का अभाव है। ॥६.३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ॥ ॥६.४॥

यदा, हि, न, इन्द्रिय-अर्थेषु, न, कर्मसु, अनुपजते।
सर्व-संकल्प-संन्यासी, योगारूढः, तदा, उच्यते ॥

जिस काल में मनुष्य न तो इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस समय वह सर्वसंकल्पों का त्याग करने वाला मनुष्य योगारूढ़ अर्थात योगसिद्ध कहलाता है। ॥६.४॥

---

[37] निष्काम भाव से कर्म करना

आत्म-उद्धार के लिए प्रेरणा और भगवत्प्राप्त पुरुष के लक्षण

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ॥६.५॥

उद्धरेत, आत्मना, आत्मानम्, न, आत्मानम्, अवसादयेत्।
आत्मा, एव, हि, आत्मनः, बन्धुः, आत्मा, ए, रिपुः, आत्मनः॥

मनुष्य को अपना उद्धार स्वयं ही करना चाहिए और कभी भी अपने आप को अधोगति में नहीं डालना चाहिए, क्योंकि मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। ॥६.५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ॥६.६॥

बन्धुः,आत्मा,आत्मनः, तस्य,येन, आत्मा, एव, आत्मना, जितः।
अनात्मनः, तु, शत्रुत्वे, वर्तेत, आत्मा, एव, शत्रुवत् ॥

जिसने मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वशीभूत कर लिया है, उसकी आत्मा अपनी मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर को वशीभूत नहीं किया गया है, उसकी आत्मा शत्रु की तरह उसके अपकार में ही प्रवृत रहता है। ॥६.६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ॥६.७॥

जित-आत्मनः, प्रशान्तस्य, परमात्मा, समाहितः ।
शीतउष्ण-सुख-दुःखेषु, तथा, मान-अपमानयोः ॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि में तथा मान और अपमान में जो जितात्मा – इन्द्रियों को जीतने वाला तथा प्रशांत- सर्वत्र समबुद्धि होने के कारण राग-द्वेष से रहित है। ऐसे स्वाधीन आत्मावाले मनुष्य में सच्चिदानन्द परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित हैं अर्थात उसमे परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ॥६.७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ॥६.८॥

ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा, कूट-स्थः विजित-इन्द्रियः।
युक्तः, इति, उच्यते, योगी, सम-लोष्ट-अश्म-काश्चनः ॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकार रहित है, जिसने अपनी इन्द्रियों को भलीभाँति जीत लिया है और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योग युक्त अर्थात भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है। ॥६.८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ॥९॥

सुहृद्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वष्य-बन्धुषु।
साधुषु, अपि, च, पापेषु, सम-बुद्धिः, विशिष्यते ॥

सुहृद्[38], मित्र, शत्रु, उदासीन[39], मध्यस्थ[40], द्वेष्य और बन्धुगणों में, धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाव रखने वाला योगी अन्य सबकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है। ॥९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ ॥६.१०॥

योगी, युञ्जीत, सततम्, आत्मानम्, रहसि, स्थितः।
एकाकी, यत-चित्त-आत्मा, निर्-आशीः, अपरिग्रहः॥

योगी को अकेले ही एकांत स्थान में रह कर, आशारहित और संग्रहरहित रहकर अपने मन और शरीर को संयत करके निरंतर अपने अंत: करण को समाधि में स्थित रखना चाहिए अर्थात मन और शरीर को शांत रखकर निरंतर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। ॥६.१०॥

विस्तार से ध्यान योग का विषय

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ॥६.११॥

शुचौ, देशे, प्रतिष्ठाप्य, स्थिरम्, आसनम्, आत्मनः ।
न, अति-उच्छ्रितम्, न, अति-नीचम्,, चैल-अजिन-कुश-उत्तरम् ॥

---

[38] स्वार्थ रहित सबका हित करने वाला
[39] पक्षपातरहित
[40] दोनों ओर की भलाई चाहने वाला

शुद्ध भूमि में, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हों, जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसन को स्थिर स्थापित करके। ॥६.११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ ॥६.१२॥

तत्र, एक-अग्रम्, मनः कृत्वा, यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः।
उपविश्य, आसने, युज्यात्, योगम्, आत्म-विशुद्धये ॥

उस आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए, मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे। ॥६.१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ॥६.१३॥

सम, काय-शिरः ग्रीवम्, धारयन्, अचलम्, स्थिरः।
संप्रेक्ष्य, नासिका-अग्रम्, स्वम्, दिशः, च, अनवलोकयन् ॥

उसे स्थिर होकर शरीर के मध्यभाग, सिर और गले को सीधा एवं अचल होकर, अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ स्थित होना चाहिय। ॥६.१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ॥६.१४॥

प्रशान्त-आत्मा, विगत-भीः, ब्रह्मचारि-व्रते, स्थितः।
मनः, संयम्य, मत्-चित्तः, युक्तः, आसीत,, मत्-परः ॥

योगी को शांत अन्तःकरण वाला, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित, मन को संयत करके, मुझमें ही चित्त लगा कर और मुझको ही अपना परम पुरषार्थ समझते हुए योगयुक्त होकर बैठना चाहिए। ॥६.१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ ॥६.१५॥

युजन्, एवम्, सदा, आत्मानम्, योगी, नियत-मानसः ।
शान्तिम्, निर्वाण-परमाम्, मत्-संस्थाम्, अधिगच्छति ॥

वश में किए हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरंतर मुझ परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ, मुझमें रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठा रूप शान्ति को प्राप्त होता है। ॥६.१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ ॥६.१६॥

न, अति, अश्नतः, तु, योगः, अस्ति, न, च, एकान्तम्, अन्श्नतः ।
न, च, अति, स्वप्न-शीलस्य, जाग्रतः, न, एव, च, अर्जुन ॥

हे अर्जुन! यह योग न तो अधिक भोजन करने वालों से, न भूखे रहने वालों से, न बहुत सोने वालों से और न सदा जागने वालों से ही सिद्ध होता है। ॥६.१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ॥६.१७॥

युक्त-आहार-विहारस्य, युक्त-चेष्टस्य, कर्मसु ।
युक्त-स्वप्न-अवबोधस्य, योगः, भवति, दुःख-हा ॥

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वालों से, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वालों से और यथायोग्य सोने तथा जागने वालों से ही सिद्ध होता है। ॥६.१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ ॥६.१८॥

यदा, विनियतम्, चित्तम्, आत्मनि, एव, अवतिष्ठते ।
निःस्पृहः, सर्व-कामेभ्यः, युक्तः, इति, उच्यते, तदा ॥

अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों से स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है। ॥६.१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ॥६.१९॥

यथा, दीपः, निवात-स्थः, न, इङ्गते, सा, उपमा, स्मृता।
योगिनः, यत-चित्तस्य, युञ्जतः, योगम्, आत्मनः ॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की शिखा स्थिर हो जाती है, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए मन की कही गई है। ॥६.१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ॥६.२०॥

यत्र, उपरमते, चित्तम्, निरुद्धम्, योग-सेवया ।
यत्र, च, एव, आत्मनो, आत्मानम्, पश्यन्, आत्मनि, तुष्यति ॥

जिस अवस्था मे योगाभ्यास के द्वारा युक्त पुरुषों की मनस्थिति आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयों से विश्रांत हो जाता है और जिस अवस्था में समाधि शुद्ध अन्तः करण के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करके आत्मा मे ही परम तृप्त हो जाते हैं। ॥६.२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ॥६.२१॥

सुखम्, आत्यन्तिकम्, यत्, तत्, बुद्धि-ग्राह्यम्. अति-इन्द्रियम् ।
वेत्ति, यत्र, न, च, एव, अयम्, स्थितः, चलति, तत्वतः ॥

जिस अवस्था में एक अपूर्व अतीन्द्रिय सूक्ष्म बुद्धिगम्य असीम आनंद को पाकर वे तत्व पद से विचलित नहीं होते। ॥६.२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ॥६.२२॥

यम्, लब्ध्वा , च, अपरम्, लाभम्, मन्यते, न, अधिकम्, ततः।
यस्मिन्, स्थितः, न, दुःखेन, गुरुणा, अपि, विचान्यते ॥

जिस लाभ को पाकर और कोई भी लाभ उससे अधिक नहीं प्रतीत होता, जिसमे प्रतिष्ठित होने पर नियति वश प्राप्त कठिन दुःख में भी योगी विचलित नहीं होते। ॥६.२२॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ ॥६.२३॥

तम्, विद्यात्, दुःख-संयोग-वियोगम्, योग-संज्ञितम्।
सः, निश्चयेन, योक्तव्यः, योगः, अ-निर्विण्ण-चेतसा ॥

दुःख संयोग से शून्य उस उत्तम अवस्था को योगावस्था समझनी चाहिए। मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधक का कर्तव्य है की आलस और मन की समस्त इच्छाओं को त्याग कर मनोबल द्वारा चारों और से इन्द्रियों को खींच कर निश्चय ही इस उत्तम योग का अभ्यास करे। ॥६.२३॥

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ ॥६.२४॥

संकल्प-प्रभवान्, कामान्, त्यक्त्वा, सर्वान्, अशेषतः ।
मनसा, एव, इन्द्रिय ग्रामम्, विनियम्य, समन्ततः ॥

संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को विशेष रूप से त्यागकर और मन द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सभी ओर से भलीभाँति रोककर। ॥६.२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ॥६.२५॥

शनैः शनैः, उपरमेत्, बुद्ध्या, धृति-गृहीतया ।
आत्म-संस्थम्. मनः, कृत्वा, न, किंचित्, अपि, चिन्तयेत् ॥

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ विरक्ति को प्राप्त करे तथा धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में ही स्थित करके परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे। ॥६.२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ॥६.२६॥

यतः, यतः, निश्चरति, मनः, चञ्चलम्, अस्थिरम्।

ततः, ततः, नियम्य, एतत आत्मनि, एव, वशम्, नयेत् ॥

यह स्थिर न रहने वाला और चंचल मन जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त संसार में विचरता है, उसे उन विषयों से हटाकर परमात्मा में ही वशीभूत कर दे। ॥६.२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ ॥६.२७॥

प्रशान्त-मनसम्, हि, एनम्, योगिनम्, सुखम्, उत्तमम्।
उपैति, शान्त-रजसम्, ब्रह्म-भूतम्, अ-कल्मषम् ॥

इस प्रकार से मन के शांत तथा रजोगुण रहित होने पर परब्रह्मस्वरूप में स्थित योगी को असीम आनंद की प्राप्ति होती है। ॥६.२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ ॥६.२८॥

युञ्जन्, एवम्, सदा, आत्मानन्, योगी, विगत-कल्मषः।
सुखेन, ब्रह्म-संस्पर्शम्, अत्यन्तम्, सुखम्, अश्नुते ॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरंतर आत्मा को परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप अनन्त आनंद का अनुभव करता है। ॥६.२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ॥६.२९॥

सर्व-भूत-स्थम्, आत्मानन्, सर्व-भूतानि, च, आत्मनि।
ईक्षते, योग-युक्त-आत्मा, सर्वत्र, सम-दर्शनः ॥

सर्वव्यापी अनंत चेतन में एकीभाव से स्थित रूप योग से युक्त आत्मा वाला, तथा सभी जड़-चेतन में समभाव देखने वाला योगी, आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में स्थित देखता है। ॥६.२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ॥६.३०॥

यः, माम् पश्यति, सर्वत्र, सर्वम्, च, मयि, पश्यति ।
तस्य, अहम्, न, प्रणश्यामि, सः, च, मे, न, प्रणश्यति ॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप, मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता। ॥ ६.३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ॥६.३१॥

सर्व-भूत-स्थितनम्, यः, माम्, भजति, एकत्वम्, आस्थितः ।
सर्वथा, वर्तमानः, अपि, सः, योगी, मयि, वर्तते ॥

जो मनुष्य एकाकी भाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव की उपासना करते हैं, वह किसी भी अवस्था में क्यों न हो, सदा मुझ में ही स्थित रहते हैं। ॥६.३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ॥६.३२॥

आत्म-औपम्येन, सर्वत्र, समम्, पश्यति, यः, अर्जुन ।
सुखम्, वा, यदि, वा, दुःखम्, सः, योगी, परमः, मतः ॥

हे अर्जुन! जो योगी सकल भूतों में सुख या दुःख दोनों को ही अपनी आत्मा के साथ तुलना करके जो सर्वत्र समदर्शी तथा सबके सुख चाहने वाले होते हैं, वह योगी ही उत्तम है। ॥६.३२॥

मन के निग्रह का विषय

अर्जुन उवाचः

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ॥६.३३॥

यः, अयम्, योगः, त्वया, प्रोक्तः, साम्येन, मधुसूदन ।
एतस्य, अहम्, न, पश्यामि, चञ्चलत्वात्, स्थितिम्, स्थिराम् ॥

अर्जुन बोले :

हे मधुसूदन! जो यह योग आपने समभाव से कहा है, मन के चंचल होने से मैं इसकी नित्य स्थिति को नहीं देखता हूँ। ॥६.३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ॥६.३४॥

चञ्चलम्, हि, मनः, कृष्ण, प्रमाथि, बलवत्, दृढम् ।
तस्य, अहम्, निग्रहम्, मन्ये, वायोः, इव, सु-दुष्करम् ॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला[41], बड़ा दृढ़ और बलवान है। इसलिए उसको वश में करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ। ॥६.३४॥

श्रीभगवानुवाच:

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ॥६.३५॥

अ-संशयम्, महाबाहो, मनः, दुर्-निग्रहम्, चलम्।
अभ्यासेन, तु, कौन्तेय, वैराग्येण, च, गृह्यते ॥

श्री भगवान बोले :

हे महाबाहो! निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। परन्तु हे कुंतीपुत्र अर्जुन! इसको अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है। ॥६.३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ॥६.३६॥

अ-संयत-आत्मना, योगः, दुष्प्रापः, इति, मे, मतिः ।
वश्य-आत्मना, तु, यतता, शक्यः, अवाप्तुम्, उपायतः ॥

जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, ऐसे मनुष्य द्वारा योग दुष्प्राप्य है। और वश में किए हुए मन वाले प्रयत्नशील मनुष्य द्वारा, साधन से उसका प्राप्त होना सहज है- ऐसा मेरा मत है। ॥६.३६॥

---

[41] इन्द्रियों को मथने- पीड़ित करने वाला

योगभ्रष्ट मनुष्य की गति का विषय और ध्यानयोगी की महिमा

अर्जुन उवाच:

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ॥६.३७॥

अयतिः, श्रद्धया, उपेतः, योगात्, चलित-मानसः।
अ-प्राप्य, योग-ससिद्धिम्, काम्, गतिम्, कृष्ण, गच्छति ॥

अर्जुन बोले :

हे श्रीकृष्ण! जो योग में श्रद्धा रखने वाला है, किन्तु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकाल में योग से विचलित हो गया है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को अर्थात भगवत्साक्षात्कार को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है। ॥६.३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ॥६.३८॥

कच्चित्, न, उभय-विभ्रष्टः, छिन्न-अभ्रम्, इव, नश्यति।
अ-प्रतिष्ठः महा-बाहो, विमूढः, ब्रह्मणः, पथि ॥

हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित और आश्रयरहित मनुष्य, छिन्न-भिन्न बादल की भाँति, दोनों ओर से भ्रष्ट होकर, नष्ट तो नहीं हो जाता?॥६.३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ॥६.३९॥

एतत्, मे, संशयम, कृष्ण, छेतुम्. अर्हसि, अ-शेषतः।
त्वत्-अन्यः, संशयस्य, अस्य, छेत्ता, न, हि, उपपद्यते॥

हे श्रीकृष्ण! मेरे संदेह का निश्चित निराकरण कीजिए, क्योंकि आपके सिवा इसका निराकरण करने वाला कोई दूसरा मुझे दिखाई नहीं देता। ॥६.३९॥

श्रीभगवानुवाच:

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ॥६.४०॥

पार्थ, न, एव, इह, न, अमुत्र, विनाशः तस्य, विद्यते।
न, हि, कल्याण-कृत्, कश्चित्, दुर्गतिम्, तात, गच्छति॥

श्री भगवान बोले :-

हे पार्थ! उस मनुष्य का न तो इस लोक में नाश होता है और न ही परलोक में। क्योंकि हे प्रिय अर्जुन! आत्म कल्याण के पथ पर चलने वाले यात्री कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होते हैं। ॥६.४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ॥६.४१॥

प्राप्य, पुण्य-कृतान्, लोकान्, उषित्वा, शाश्वतीः, समाः।
शुचीनाम्, श्रीमताम्, गेहे, योग-भ्रष्टः, अभिजायते॥

योगभ्रष्ट मनुष्य पुण्यवानों के लोकों को अर्थात स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षों तक निवास करके फिर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान पुरुषों के घर में जन्म लेता है। ॥६.४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ॥६.४२॥

अथवा, योगिनाम्, एव, कुले, भवति, धीमताम् ।
एतत्, हि, दुर्लभतरम्, लोके, जन्म, यत्, ईदृशम् ॥

अथवा वैराग्यवान मनुष्य उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है, सो संसार में निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है। ॥६.४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ॥६.४३॥

तत्र, तम्, बुद्धि-संयोगम्, लभते, पौर्व-देहिकम्।
यतते, च, ततः, भूयः, संसिद्धौ, कुरु-नन्दन ॥

वहाँ उस पहले शरीर में संग्रह किए हुए बुद्धि-संयोग को अर्थात समबुद्धिरूप योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है। और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभाव से वह फिर परमात्मा की प्राप्तिरूप सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है। ॥६.४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ॥६.४४॥

पूर्वअभ्यासेन-, तेन, एव, ह्रियते, हि, अवशः, अपि, सः।
जिज्ञासुः, अपि, योगस्य, शब्दब्रह्म, अतिवर्तते ॥

वह श्रीमानों के घर में जन्म लेने वाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहले के अभ्यास से ही निःसंदेह भगवान की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धि रूप योग का जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को उल्लंघन कर जाता है। ॥६.४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो यात परां गतिम् ॥ ॥६.४५॥

प्रयत्नात्, यतमानः, तु, योगी, संशुद्ध-किल्बिषः ।
अनेक-जन्म-संसिद्धः, ततः, याति, परम्, गतिम् ॥

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी तो पिछले अनेक जन्मों के संस्कारबल से इसी जन्म में संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापों से रहित हो फिर तत्काल ही परमगति को प्राप्त हो जाता है। ॥६.४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ॥६.४६॥

तपस्विभ्यः, अधिकः, योगी, ज्ञानिभ्यः, अपि, मतः, अधिकः ।
कर्भिभ्यः, च, अधिकः, योगी, तस्मात्, योगी, भव, अर्जुन ॥

क्रियायोग परायण मनुष्य तपस्वियों से श्रेष्ठ हैं, ज्ञानियों से श्रेष्ठ हैं और कर्मियों से भी श्रेष्ठ इसलिए हे अर्जुन! तुम योगी हो जाओ। ॥६.४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ॥६.४७॥

योगिनाम्, अपि, सर्वेषाम्, मद्गतेन, अन्तर-आत्मना ।
श्रद्धावान्, भजते, यः, माम्, सः, मे, युक्त-तमः, मतः ॥

योगियों में भी, जो श्रद्धालु योगी मुझमें सम्पूर्ण मन को लगा कर, मेरी उपासना करता है, ऐसे भक्तिमान योगी को मैं सर्वश्रेष्ठ योगी समझता हूँ। ॥६.४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ सप्तमोध्यायः ज्ञानविज्ञानयोगः

सातवां अध्याय: ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच:

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ ॥७.१॥

मयि, आसक्त-मनाः, पार्थ, योगम्, युञ्जन्, मत्-आश्रयः।
अ-संशयम्, समग्रम्, माम्, यथा, ज्ञास्यसि, तत्, शृणु ॥

श्री भगवान बोले :

हे पार्थ! मुझ में पूर्ण रूप से आसक्ति चित्त और मेरा पूर्ण आश्रय लिए हुए, योग का अभ्यास करते हुए तुम, जिस प्रकार, मुझे निसंदेह रूप से, पूर्णतया जान पाओगे वह सुनो। ॥७.१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ ॥७.२॥

ज्ञानम्, ते, अहम्, स-विज्ञानम्, इदम्, वक्ष्यामि, अशेषतः।
यत, ज्ञात्वा, न, इह, भूयः, अन्यत्, ज्ञातव्यम्, अवशिष्यते ॥

मैं तुम्हे इस ज्ञान का विज्ञान के सहित पूर्ण उपदेश करूँगा, जिसको जानने के पश्चयात संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता। ॥७.२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥ ॥७.३॥

मनुष्याणाम्, सहस्रेषु, कश्चित्, यतति, सिद्धये।
यतताम्, अपि, सिद्धानाम्, कश्चित्, माम्, वेत्ति, तत्त्वतः ॥

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई एक ही मुझे तत्व से अर्थात यथार्थ रूप से जान पाता है। ॥७.३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ॥७.४॥

भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम्, मन, बुद्धिः, एव, च ।
अहंकारः, इति, इयम्, मे, भिन्ना, प्रकृतिः, अष्टधा ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ॥७.५॥

अपरा, इयम्, इतः, तु, अन्याम्, प्रकृतिम्, विद्धि, मे, पराम् ।
जीव भूताम्, महा-बाहो, यया, इदम्, धार्यते, जगत् ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, मेरी आठ प्रकार से युक्त प्रकृति है। हे महाबाहो! यह आठ प्रकार के भेदों वाली मेरी अपरा अर्थात मेरी जड़ प्रकृति है और इससे अतिरिक्त जो जीवस्वरूपा अर्थात चेतन

प्रकृति है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है उसे मेरी परा प्रकृति जानो। ॥७.४-७.५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ॥६॥

एतत्, योनीनि, भूतानि, सर्वाणि, इति, उपधारय।
अहम्, कृत्स्नस्य, जगतः प्रभवः, प्रलयः, तथा ॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले हैं, और मैं ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति तथा प्रलय का स्थान हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ। ॥७.६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ॥७.७॥

मत्तः, परतरम्, न, अन्यत्, किंचित्, अस्ति, धनंजय ।
मयि, सर्वम्, इदम्, प्रोतम्, सूत्रे, मणि-गणाः, इव ॥

हे धनंजय! इस जगत में मुझसे अतिरिक्त कोई वस्तु नही हैं, जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ पिरोई जाती हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत मुझसे ओत-प्रोत है अर्थात यह सम्पूर्ण जगत सूत्र में मणियों के समान मुझमें गुँथा हुआ है। ॥७.७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ॥७.८॥

रसः, अहम्, अप्सु, कौन्तेय, प्रभा, अस्मि, शशि-सूर्ययोः।
प्रणवः, सर्व-वेदेषु, शब्दः, खे, पौरुषम्, नृषु ॥

हे कुन्तीनन्दन! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में मनुष्यत्व हूँ। ॥७.८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ॥७.९॥

पुण्यः, गन्धः, पृथिव्याम्, च, तेजः, च, अस्मि, विभावसौ ।
जीवनम्, सर्व-भूतेषु, तपश्चा, अस्मि, तपस्विषु ॥

मैं पृथ्वी में पवित्र गंध हूँ, अग्नि में तेज हूँ, सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ तथा तपस्वियों का तप हूँ। ॥७.९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ ॥७.१०॥

बीजम्, माम् , सर्व-भूतानाम्, विद्धि, पार्थ, सनातनम् ।
बुद्धिः, बुद्धिमताम्, अस्मि, तेजः, तेजस्विनाम, अहम् ॥

हे पार्थ! तुम मुझे सम्पूर्ण भूतों का आदि कारक बीज जानो। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। ॥७.१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ॥११॥

बलम् , बलवताम्, च, अहम्, काम-राग-विवर्जितम्।
धर्म-अविरुद्धः, भूतेषु, कामः, अस्मि, भरत-ऋषभ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानों में आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात सामर्थ्य हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल, शास्त्रोक्त काम हूँ। ॥७.११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्चये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ ॥७.१३॥

ये, च, एव, सात्त्विकाः, भावाः, राजसाः, तामसाः, च, ये ।
मत्तः, एव, इति, तान्, विद्धि, न, तु, अहम्, तेषु, ते, मयि ॥

जो भी सात्विक, राजसिक या तामसिक भाव हैं उन्हें तुम मुझ से ही उत्पन्न हुआ जानो, परन्तु वास्तव में मैं उनमें नहीं हूँ और वह मुझमें नहीं हैं। ॥७.१३॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ ॥७.१४॥

त्रिभिः, गुणमयैः, भावैः, एभिः, सर्वम्, इदम्, जगत् ।
मोहितम्, न, अभिजानाति, माम्, एभ्यः, परम्, अव्ययम् ॥

इन त्रिगुणमय[42] भावों से मोहित हुआ यह जगत इनसे भिन्न, इनके मूलभूत मुझ अविनाशी को नहीं जानता। ॥७.१४॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ॥७.१५॥

दैवी, हि, एषा, गुणमयी, मम, माया, दुरत्यया ।
माम्, एव, ये, प्रपद्यन्ते, मायाम्, एताम्, तरन्ति, ते ॥

मेरी यह त्रिगुणमयी माया बड़ी कठिनता से पार की जाने योग्य हैं, परन्तु जो मनुष्य केवल मुझको ही निरंतर प्राप्त होते हैं अर्थात मेरे आश्रय में रहते हैं, केवल वह ही इस माया को पार कर सकते हैं। ॥७.१४॥

---

[42] सात्विक, राजसिक या तामसिक

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ ॥१५॥

न, माम्, दुष्-कृतिनः, मूढाः, प्रपद्यन्ते, नर-अधमाः ।
मायया, अपहृत-ज्ञानाः, सुरम्, भावम्, आश्रिताः ॥

जो पापी, मूढ़ और आसुरी भाव का आश्रय लेने वाले हैं तथा माया ने जिनका ज्ञान हर लिया है, वह मुझे कभी प्राप्त नहीं कर सकते। ॥७.१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ ॥७.१६॥

चतुर्-विधाः, भजन्ते, माम्, जनाः, सुकृतिनः, अर्जुन ।
आर्तः, जिज्ञासुः, अर्थ-अर्थी, ज्ञानी, च, भरत-ऋषभ ॥

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी[43], आर्त[44], जिज्ञासु[45] और ज्ञानी- ऐसे चार प्रकार पुण्यकर्मा भक्तजन मेरा सुमिरन करते हैं। ॥७.१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ ॥७.१७॥

तेषाम्, ज्ञानी, नित्य-युक्तः, एक-भक्तिः, विशिष्यते ।
प्रियः, हि, ज्ञानिनः, अत्यर्थम्, अहम्, सः, च, मम, प्रियः ॥

---

43 सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति का इच्छुक
44 संकटनिवारण के इच्छुक
45 मुझे यथार्थ रूप से जानने की इच्छा रखने वाला

उनमें भगवान् में सर्वदा समाधियुक्त रहने वाला तथा एकमात्र उन्ही में भक्ति रखने वाला तत्वज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है। क्योंकि मुझे तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है। ॥७.१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ ॥७.१८॥

उदाराः, सर्वे, एव, एते, ज्ञानी, तु, आत्मा, एव, मे, मतम् ।
अस्थितः, सः, हि, युक्त-आत्मा, माम्, एव, अनुत्तमाम्, गतिम् ॥

श्रेष्ठ तो मेरे सभी भक्त हैं। परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है- ऐसा मेरा मत है क्योंकि उसका चित्त मुझमें ही समाहित है और वह मुझे ही अपनी सर्वश्रेष्ठ गति मानता है। ॥७.१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ ॥७.१९॥

बहूनाम्, जन्मनाम्, अन्ते, ज्ञानवान्, माम्, प्रपद्यते ।
वासुदेवः, सर्वम्, इति, सः, महात्मा, सु-दुर्लभः ॥

अनेकों जन्मों के पश्च्यात, तत्व ज्ञान को प्राप्त मनुष्य, सब कुछ वासुदेव ही हैं मान कर मेरा भजन करता है । ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। ॥७.१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ ॥७.२०॥

कामैः, तैः, तैः, हृत-ज्ञानाः, प्रपद्यन्ते, अन्य-देवताः ।
तम्, तम्, नियमम्, आस्थाय, प्रकृत्या, नियताः, स्वया ॥

परन्तु जिन भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभाव से प्रेरित होकर उन नियमों को धारण करके अन्य देवताओं का भजन करते हैं अर्थात पूजते हैं। ॥७.२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ ॥७.२१॥

यः, यः, याम्, याम्, तनुम्, भक्तः, श्रद्धया, अर्चितुम, इच्छति ।
तस्य, तस्य, अचलाम्, श्रद्धाम्, ताम्, एव, विदधामि, अहम् ॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उन भक्तों की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ। ॥७.२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ ॥७.२२॥

सः, तया, श्रद्धया, युक्तः, तस्य, आराधनम्, ईहते ।
लभते, च, ततः, कामान्, मया, एव, विहितान्, हि, तान् ॥

उस श्रद्धा से युक्त होकर वह देवभक्त, उन देवताओं का पूजन करता है और मेरे द्वारा ही निष्पन्न की हुई अपनी कामनाओं को उस देवता से निःसंदेह प्राप्त करता है। ॥७.२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ ॥७.२३॥

अन्तवत्, तु, फलम्, तेषाम्, तत्, भवति, अल्प-मेधसाम् ।
देवान्, देव-यजः, यान्ति, मद्-भक्ताः, यान्ति, माम्, अपि ॥

परन्तु उन अल्प-बुद्धि देव उपासकों को नाशवान फल की प्राप्ति होती हैं। देवताओं की उपासना करने पर वह देवताओं को ही प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे भी वह मेरी उपासना करें, अन्त में वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। ॥७.२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ ॥७.२४॥

अव्यक्तम्, व्यक्तिम्, आपननम्, मन्यन्ते, माम्, अ-बुद्धयः ।
परम्, भावम्, अजानन्तः, मम, अव्ययम्, अनुत्तमम् ॥

मेरे अविनाशी, सर्वोत्तम तथा सबके कारणरूप भावों को न जानने वाले बुद्धिहीन मनुष्य, अव्यक्त रूप मुझे, व्यक्त रूप से प्राप्त हुआ मानते हैं। अर्थात मुझ सच्चिदानन्द घन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जन्म ले कर व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं। ॥७.२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ ॥७.२५॥

न, अहम्, प्रकाशः, सर्वस्य, योगमाया-समावृतः ।
मूढः, अयम्, न, अभिजानाति, लोकः, माम्, अजम्, अव्ययम् ॥

अपनी योगमाया से आच्छादित हुआ मैं सबके सामने प्रकट नहीं होता, इसलिए यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वर को नहीं जान पाता। ॥७.२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ ॥७.२६॥

वेद, अहम, समतीतानि, वर्तमानानि, च, अर्जुन ।
भविष्याणि, च, भूतानि, माम्, तु, वेद, न, कश्चन ॥

हे अर्जुन! मैं तो भूत, भविष्य और वर्तमान सभी प्राणियों को जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता। ॥७.२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ ॥७.२७॥

इच्छा-द्वेष-समुत्थेन, द्वन्द्व-मोहेन, भारत ।
सर्व-भूतानि, सम्मोहम्, सर्गे, यान्ति, परन्तप ॥

हे भरत! हे परन्तप! स्थूल देह की उत्पत्ति होने पर समस्त प्राणी इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए सुख दुःख आदि द्वन्द जनित मोह से अविवेक को प्राप्त होते हैं। ॥७.२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ ॥७.२८॥

येषाम्, तु, अन्त-गतम्, पापम्, जनानाम्, पुण्य-कर्मणाम्।
ते, द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः, भजन्ते, माम्, दृढ-व्रताः ॥

जिन पुण्यकर्मा पुरुषों के पाप का अंत हो गया है। वे द्वन्द जनित मोह से सर्वथा मुक्त और सुदृढ़ संकल्प लेकर मेरा भजन, सुमिरन करते हैं। ॥७.२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ ॥७.२९॥

जरा-मरण-मोक्षाय, माम्, आश्रित्य, यतन्ति, ये ।
ते, ब्रह्म, तत्, विदुः, कृत्स्नम्, अध्यात्मम्, कर्म, च, अखिलम् ॥

जो लोग मेरा आश्रय लेकर जन्ममरण की निर्वृति के लिय प्रयत्न करते हैं। वह तत्पद के लक्ष्य मुझे, शरीर आदि उपाधि से परिच्छिन्न एवं पद के लक्ष्य आत्मा को और उनके साधनभूत कर्म को सर्वथा जानते हैं। ॥७.२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ॥७.३०॥

स-अधिभूत-अधिदैवम्, माम्, स-अधियज्ञम्, च, ये विदुः ।
प्रयाणकाले, अपि, च, माम्, ते, विदुः, युक्त-चेतसः ॥

जो मनुष्य अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित मुझे जान लेते हैं, वह मुझ में एकाग्र चित्त हो, मरण काल में भी अनायास ही मुझे जान सकते है। ॥७.३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का ज्ञान विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ अष्टमोध्यायः अक्षरब्रह्मयोगः

आठवां अध्याय : अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच :

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ ॥८.१॥

किम्, तत, ब्रह्म, किम्, अध्यात्मम्, किम्, कर्म, पुरुष-उत्तम।
अधिभूतम्, च, किम्, प्रोक्तम्, अधिदैवम् किम उच्यते ॥

अर्जुन ने कहा:

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहा जाता है तथा अधिदैव क्या है । ॥८.१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ ॥८.२॥

अधियज्ञः, कथम्, कः, अत्र, देहे, अस्मिन्, मधुसूदन।
प्रयाण-काले, च, कथम, ज्ञेयः, असि, नियत-आत्मभिः ॥

हे मधुसूदन! इस देह में अधियज्ञ कौन है? किस प्रकार उसका चिंतन करना चाहिए ? तथा मरण काल में एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य किस प्रकार आपको जान सकता है? ॥८.२॥

श्रीभगवानुवाच:

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ॥८.३॥

अक्षरम्, ब्रह्म, परमम्, स्वभावः, अध्यात्मम्, उच्यते।
भूत-भाव-उद्भवकरः, विसर्गः, कम-संज्ञितः ॥

श्री भगवान ने कहा:

अक्षर[46] परमात्मा 'ब्रह्म' है, उसके स्वरूप अर्थात जीवात्मा को 'अध्यात्म' कहा जाता है तथा स्थावर[47]–जंगम[48] प्राणियो की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाले यज्ञ, होम तथा दान रूप त्याग[49] कर्म कहलाता है। ॥८.३॥

अधिभूतं क्षरो भावः मनुष्यश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ॥८.४॥

अधिभूतम्, क्षरः, भावः, पुरुषः, च, अधिदैवतम्।
अधियज्ञः, अहम्, एव, अत्र, देहे, देह-भृताम्, वर ॥

देहधारियों में श्रेष्ठ हे अर्जुन ! विनाशशील प्राणीसमुदाय (उत्पत्ति-अंत धर्म के अंतर्गत आने वाले सभी प्राणी तथा पदार्थ) अधिभूत हैं, हिरण्यमय मनुष्य (जिसको हिरण्यगर्भ, प्रजापति, ब्रह्मा इत्यादि नामों से कहा गया है) अधिदैव है और इस शरीर में मैं ही अन्तर्यामी रूप से स्थापित आत्मरूपी अधियज्ञ हूँ। ॥८.४॥

---

[46] जिनका कभी क्षय (नाश) न हो
[47] एक स्थान पर स्थिर
[48] जो चल सकता हो
[49] वैदिक कर्म

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ॥८.५॥

अन्तकाले, च, माम्, एव, स्मरन्, मुक्त्वा, कलेवरम्।
यः, प्रयाति, सः, मद्-भावम्, याति, न, अस्ति, अत्र, संशयः ॥

अंतकाल में जो मनुष्य मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है, वह मेरा ही स्वरुप प्राप्त करता है, इसमें संदेह नहीं हैं। ॥८.५॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ॥ ॥८.६॥

यम्, यम्, वा, अपि, स्मरन्, भावम्, त्यजति, अन्ते, कलेवरम् ।
तम्, तम्, एव, एति, कौन्तेय, सदा, तद्-भाव-भावितः ॥

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! मरण काल में मनुष्य जिस-जिस भाव को स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह उसी भाव को प्राप्त होता है क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहता है। ॥८.६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ॥८.७॥

तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, माम्, अनुस्मर, युध्य, च।
मयि, अर्पित-मनः-बुद्धिः, माम्, एव, एष्यसि, अ-संशयम् ॥

इसलिए हे अर्जुन! तुम निरंतर मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो (स्वधर्म का पालन करो)। इस प्रकार मुझमें अर्पण किए हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तुम निःसंदेह मुझे ही प्राप्त करोगे। ॥८.७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ॥८.८॥

अभ्यास-योग-युक्तेन, चेतसा, न, अन्य-गामिना ।
परमम्, मनुष्यम्, दिव्यन्, याति, पार्थ, अनुचिन्तयन् ॥

हे पार्थ! अभ्यास रूप समाधि से युक्त तथा और किसी अन्य विषय का चिंतन न करने वाले चित्त से शास्त्र तथा आचार्य के उपदेशानुसार चिंतन करने से मनुष्य सूर्यमंडल में स्थित परममनुष्य को प्राप्त हो जाता है। ॥८.८॥

कविं पुराणमनुशासितार-मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ॥८.९॥

कविम्, पुराणम्, अनुशासितारम्, अणोः, अणीयांसम्, अनुस्मरेत्, यः ।
सर्वस्य, धातारम्, अचिन्त्य-रूपम्, आदित्य-वर्णम्, तमसः, परस्तात् ॥

जो मनुष्य सर्वज्ञ, अनादि, सम्पूर्ण जगत के नियामक, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, समस्त कर्मों का विभाग करने वाले, अचिन्त्य-स्वरूप, सूर्य के समान प्रकाशमय तथा अज्ञान रूप अन्धकार से परे अतीत सच्चिदानन्दघन परमेश्वर का स्मरण करता है। ॥८.९॥

प्रयाण काले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्- स तं परं मनुष्यमुपैति दिव्यम् । ॥८.१०॥

प्रयाण-काले, मनसा, अचलेन, भक्त्या, युक्तः, योग-बलेन, च, एव।
भ्रुवोः, मध्ये, प्राणम्, आवेश्य, सम्यक, सः, तम्, परम्, मनुष्यम्, उपैति, दिव्यम् ॥

वह उपासक अन्तकाल में भक्ति युक्त होकर, योगबल से, दोनों आखों के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार से स्थापित करके, अविचल मन से उस सच्चिदानन्दघन परमेश्वर का स्मरण करता हुआ, उस दिव्य रूप परम मनुष्य परमात्मा को ही प्राप्त होता है। ॥८.१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ॥८.११॥

यत्, अक्षरम्, वेद-विदः, वदन्ति, विशन्ति, यत्, यतयः, वीत-रागाः ।
यत्, इच्छन्तः, ब्रह्मचर्यम्, चरन्ति, तत्, ते, पदम्, संग्रहेण, प्रवक्ष्ये ॥

जिस अक्षर का वेदज्ञ (वेदों को जानने वाले विद्वान) निरूपण करते हैं, जिसमे विरक्त तत्वदर्शी प्रवेश करते हैं, तथा जिसकी इच्छा करने वाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परमपद का तुम्हारे प्रति मैं संक्षेप से वर्णन करता हूँ। ॥८.११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ ॥८.१२॥

सर्वद्वाराणि, संयम्य, मनः, हृदि, निरुध्य, च ।
मुर्धिन, आधाय, आत्मनः, प्राणम्, आस्थितः,योग-धारणाम् ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ ॥८.१३॥

ओम, इति, एक-अक्षरम ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन् ।
यः, प्रयाति, त्यजन्, देहम, सः, याति, परमाम् गतिम् ॥

जो उपासक समस्त इन्द्रियों को रोककर, मन को हृदय में स्थापित करके, प्राणों को आँखों के मध्य में स्थित करके, और योगधारणा में स्थित होकर ॐ इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण कर मेरा निरंतर स्मरण करता हुआ देह त्याग कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। ॥८.१२ - ८.१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनीः ॥ ॥८.१४॥

अनन्य-चेताः, सततम्, यः, माम्, स्मरति, नित्यशः।
तस्य, अहम्, सुलभः, पार्थ, नित्य-युक्तस्य, योगिनः॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य चित्त को अन्य विषयों की और न ले जाकर, अनन्य-चित्त होकर सदा मेरा ही स्मरण करता है। हे पार्थ ! उस सर्वदा समाहित चित्त योगी को मैं सुलभता से प्राप्त हो जाता हूँ। ॥८.१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ॥८.१५॥

माम्, उपेत्य, पुनर्जन्म, दुःख-आलयम्, अ-शाश्वतम् ।
न, आप्नुवन्ति, महात्मानः, संसिद्धिम्, परमाम्, गताः ॥

मुझे प्राप्त होकर, सर्वोत्कृष्ट मुक्तिपद को प्राप्त हुए महात्मा लोग, दुःख के स्थान रूप नश्वर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते। ॥८.१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ॥८.१६॥

आ-ब्रह्म-भुवनात्, लोकाः, पुनर्-आवर्तिनः, अर्जुन ।
माम्, उपेत्य, तु, कौन्तेय, पुनः, जन्म, न, विद्यते ॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोक पर्यंत सभी लोक पुनरावृति की प्राप्ति करने वाले हैं, परन्तु हे कुन्तीनंदन! मुझे प्राप्त करने के पश्च्यात पुनर्जन्म नहीं होता। ॥८.१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ॥८.१७॥

सहस्र-युग-पर्यन्तम्, अहः, यत्, ब्रह्मणः, विदुः।
रात्रिम्, युग-सहस्र-अन्ताम्, ते, अहः-रात्र-विदः, जनाः ॥

जो मनुष्य ब्रह्मा के दिन को सहस्त्रयुग[50] तक चलने वाला तथा ब्रह्मा की रात्रि को सहस्त्रयुग में समाप्त होने वाली जानते हैं, वे योगीजन काल के तत्व को जानने वाले हैं। ॥८.१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ ॥८.१८॥

अव्यक्तात्, व्यक्तयः, सर्वाः, प्रभवन्ति, अहः-आगमे।
रात्रि-आगमे, प्रलीयन्ते, तत्र, एव, अव्यक्त-संज्ञके ॥

प्रजापति की जाग्रत अवस्था दिन के आने पर उसकी सुषुप्ति रूप अव्यक्त अवस्था (सूक्ष्म रूप) से संपूर्ण चराचर प्राणिमात्र से उत्पन्न होते हैं तथा उनकी सुषुप्ति रूपा रात्रि के आने पर उस अव्यक्त नामक प्रजापति में ही लीन हो जाते हैं। ॥८.१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ ॥८.१९॥

भूत-ग्रामः, सः, एव, अयम्, भूत्वा, भूत्वा, प्रलीयते।

---

[50] एक हजार चतुर्युग तक की अवधि वाला

रात्रि-आगमे, अवशः, पार्थ, प्रभवति, अहः-आगमे ॥

हे पार्थ! प्रजापति की रात्रि आने पर यही प्राणी समुदाय कर्मवश उत्पन्न होकर लीन हो जाते हैं तथा उनका दिन आने पर पुनः उत्पन्न होते हैं। ॥८.१९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ ॥८.२०॥

परः, तस्मात्, तु, भावः, अन्यः, अव्यक्तः, अव्यक्तात्, सनातनः।
यः, सः, सर्वेषु, भूतेषु, नश्यत्सु, न, विनश्यति ॥

उस अव्यक्त से भी अति परे, अर्थात विलक्षण, जो दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है, वह परम दिव्य मनुष्य सब प्राणिमात्र के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। ॥८.२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ॥८.२१॥

अव्यक्तः, अक्षरः, इति, उक्तः, तम्, आहुः, परमाम्, गतिम् ।
यम्, प्राप्य, न, निवर्तन्ते, तत्, धाम, परमम्, मम ॥

जिसे 'अव्यक्त' और 'अक्षर' कहा गया है, उसी को शास्त्रों ने परम गति कहा है। जिसे पाकर मनुष्य इस नश्वर संसार में वापस नहीं आता, वही मेरा सर्वोत्कृष्ट स्वरुप है अर्थात मेरा परम धाम है। ॥८.२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ ॥८.२२॥

पुरुषः, सः, परः, पार्थ, भक्त्या, लभ्यः, तु, अनन्यया ।
यस्य, अन्तः-स्थानि, भूतानि, येन, सर्वम्, इदम् , ततम् ॥

हे पार्थ! वह परममनुष्य परमात्मा जिसके अन्दर समस्त प्राणिमात्र विद्यमान हैं तथा जिसने इस सकल प्रपंच को व्याप्त किया है उस परममनुष्य परमात्मा को अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ॥८.२२॥

यत्र काले त्वनावत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ ॥८.२३॥

यत्र, काले, तु, अनावृत्तिम्, आवृत्तिम्, च, एव, योगिनः ।
प्रयाताः, यान्ति, तम्, कालम्, वक्ष्यामि, भरत-ऋषभ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! जिस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग में जाने वाले योगी, ध्यानी और कर्मी मनुष्य अपुनरावृति गति को प्राप्त करते हैं (वापस लौटकर नहीं आते) और जिसमे जाने वाले पुनरावृति गति को प्राप्त करते हैं (पुन: इस नश्वर संसार में वापस लौटकर आते हैं), उस उस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग का मैं वर्णन करूँगा अर्थात दोनों मार्गों को कहूँगा। ॥८.२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ ॥८.२४॥

अग्निः, ज्योतिः, अहः, शुक्लः, षण्मासाः, उत्तरायणम्।
तत्र, प्रयाताः, गच्छन्ति, ब्रह्म, ब्रह्म-विदः, जनाः ॥

सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाले मनुष्य देवयान मार्ग में जाते हुए क्रमशः अचिर्भिमानी देवता (ज्योति एवं अग्नि अभिमानी देवता), दिव्साभिमानी देवता, शुक्ल्पक्षभिमानी देवता और उत्तरायण के छ: महीनो के अभिमानी देवताओं के लोकों में जाकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होते है। ॥८.२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ ॥८.२५॥

धुमः, रात्रिः, तथा, कृष्णः, षण्मासाः, दक्षिणायनम् ।
तत्र, चान्द्रमसम्, ज्योतिः, योगी, प्राप्य, निवर्तते ।।

कर्म मार्ग (पितृयान से जाते हुए) क्रमश: धूमाभिमानी देवता, रात्राभिमानी देवता, दक्षिणायन के छ: महीने होने के अभिमानी देवता और चंद्रमा की ज्योति के अभिमानी देवताओं के लोकों में जाकर इस नश्वर संसार में पुन: लौट आते हैं। ॥८.२५॥

शुक्ल कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्ति मन्ययावर्तते पुनः ॥ ॥८.२६॥

शुक्ल-कृष्णे, गती, हि, एते, जगतः, शाश्वते, मते ।
एकया, याति, अनावृत्तिम्, अन्यया, अवर्तते, पुनः ॥

संसार की ये शुक्ल और चन्द्र मार्ग की गतियाँ अनादि मानी गयीं हैं । इनमे से शुक्ल मार्ग से जाने वाला जीव वापस इस नश्वर संसार में लौट कर नहीं आता और कृष्ण मार्ग से जानेवाला पुन: इस नश्वर संसार में लौट आता है। ॥८.२६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ ॥८.२७॥

न, एते, सृती, पार्थ, जानन्, योगी, मुह्यति, कश्चन ।
तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, योग-युक्तः, भव, अर्जुन ॥

हे पार्थ! इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई योगी मोहित नहीं होता। अत: हे अर्जुन! तुम सर्वदा योगयुक्त हो जाओ। ॥८.२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येत तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ ॥८.२८॥

वेदेषु, यज्ञेषु, तपःसु, च, एव, दानेषु, यत्, पुण्य-फलम्, प्रदिष्टम् ।
अत्येति, तत्, सर्वम्, इदम्, विदित्वा, योगी, परम्, स्थानम्, उपैति, च, अद्यम् ।।

योगी मनुष्य इस उपासना तत्त्व को वेद, यज्ञ, तप और दान में जो कुछ पुण्य फल बताया गया है, उस सभी से आगे बढ़ जाता है तथा सबके कारणरूप सर्वश्रेष्ठ सनातन परम पद को प्राप्त कर लेता है। ॥८.२८॥

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे अक्षर ब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का ब्रह्मयोग नामक आठवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ नवमोध्यायः राजविद्याराजगुह्ययोगः

नवां अध्याय: राजविद्याराजगुह्ययोग

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ ॥९.१॥

इदम्, तु, ते, गुह्यतमम्, प्रवक्ष्यामि, अनसूयवे ।
ज्ञानम्. विज्ञान-सहितम्, यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात् ॥

श्री भगवान बोले :

मैं गुणों में दोष दृष्टि न रखने वाले तुमसे, यह ब्रह्मनुभव पर्यंत अत्यंत रहस्यमय एवं गुप्त ज्ञान कहता हूँ। जिसे जानकार तुम इस अशुभ कष्टमय संसार से पार हो जाओगे अर्थात मोक्ष प्राप्त कर लोगे। ॥९.१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ ॥९.२॥

राजविद्या, राजगुह्यम्, पवित्रम्, इदम्, उत्तमम् ।
प्रत्यक्ष-अवगमम्, धर्म्यम्, सु-सुखम्, कर्तुम्, अव्ययम् ॥

यह ज्ञान विद्याओं में राजा, अत्यंत गोपनीयों रहस्यों का राजा, पवित्र करने वालों में उत्तम, प्रमाण और फलरूप से प्रत्यक्ष अनेक जन्मों में संचित हुए

धर्मों का फल, साधना करने में अति सुगम और अविनाशी फल प्रदान करने वाला है। ॥९.२॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ॥९.३॥

अ-श्रद्दधानाः, पुरुषाः, धर्मस्य, अस्य, परंतप ।
अ-प्राप्य, मान्, निवर्तन्ते, मृत्यु-संसार-वर्त्मनी ॥

हे परंतप! इस आत्मज्ञान रूप धर्म में श्रद्धा न रखने वाला मनुष्य मुझको न प्राप्त होकर इस मृत्युरूप संसार चक्र में भ्रमण करता रहता है। ॥९.३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेषवस्थितः ॥ ॥९.४॥

मया, ततम्, इदम्, सर्वम्, जगत्, अव्यक्त-मूर्तिना।
मत्, स्थानि, सर्व-भूतानि, न, च, अहम्, तेषु, अवस्थितः ॥

यह सारा जगत अव्यक्त रूप से मेरे द्वारा व्याप्त है। सब भूत मुझ में स्तिथ हैं परन्तु मैं उनमे स्थित नहीं हूँ। ॥९.४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ॥९.५॥

न, च, मत्-स्थानि, भूतानि, पश्य, मे, योगम्, ऐश्वरम् ।
भूत-भृत्, न, च, भूत-स्थः, मम, आत्मा, भूत-भावनः ॥

परन्तु केवल कहने के लिए ही यह सब प्राणी मुझमे स्थित हैं, वास्तव में यह सभी प्राणी भिन्न हैं अर्थात मुझमें स्थित नहीं हैं। तुम मेरी इस ईश्वरीय माया शक्ति का अद्‌भुत प्रताप देखो, यद्यपि मैं आत्मा रूप से सभी प्राणियों का

पालन करने वाला तथा जीवनदाता हूँ तब भी मैं उनमें स्थित नहीं हूँ अर्थात प्राणियों के साथ मेरी कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ॥९.५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ॥९.६॥

यथा, आकाश-स्थितः, नित्यम्, वायुः, सर्वत्र-गः, महान् ।
तथा, सर्वाणि भूतानि, मत्स्थानि, इति, उपधारय ॥

जिस प्रकार सर्वदा चलनशील, सर्वगत और महान वायु आकाश में स्थित रहता है, उस प्रकार सभी प्राणियों को तुम मुझ में स्थित समझो। ॥९.६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ॥९.७॥

सर्वभूतानि, कौन्तेय, प्रकृतिम् , यान्ति, मामिकाम्।
कल्प-क्षये, पुनः, तानि, कल्प-आदौ, विसृजामि, अहम् ॥

हे कुन्तीनन्दन! कल्प का अंत हो जाने पर समस्त भूत मेरी त्रिगुणात्मिका माया में लीन हो जाते हैं तथा कल्प का आरम्भ होने पर उनकी पुनः रचना करता हूँ। ॥९.७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ॥९.८॥

प्रकृतिम्, स्वाम्, अवष्टभ्य, विसृजामि, पुनः, पुनः ।
भूत-ग्रामम्, इमम्, कृत्स्नम्, अवशम्, प्रकृतेः, वशात् ॥

मैं अपने में कल्पित माया को अपनी सत्ता और स्फूर्ति से दृढ कर, माया के प्रभाव से, अपने कर्मों में बंधे हुए अथवा प्रकृति के वशीभूत सम्पूर्ण प्राणी मात्र को बार बार उत्पन्न करता हूँ। ॥९.८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ॥९॥

न, च, माम्, तानि, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनंजय ।
उदासीनवत्, आसनम्, असक्तम्, तेषु, कर्मसु ॥

हे धनंजय! उन कर्मों में आसक्तिरहित और उदासीन के समान स्थित रहने के कारण, मुझे वह कर्म बाँधते नहीं हैं ॥९९.॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरं ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ ॥९.१०॥

मया, अध्यक्षेण, प्रकृतिः, सूयते, स-चर-अचरम् ।
हेतुना, अनेन, कौन्तेय, जगत्, विपरिवर्तते ॥

मैं जो साक्षीमात्र हूँ, उससे प्रकाशित प्रकृति, इस चराचर जगत को उत्पन्न करती हैं। हे कुन्तीनन्दन! इस कारण यह जगत अनेक प्रकार से परिवर्तित होता रहता है। ॥९.१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ॥९.११॥

अवजानन्ति, माम्, मूढाः, मानुषीम्, तनुम्, आश्रितम् ।
परम्, भावम्, आजनन्तः, मम, भूत-महा-ईश्वरम् ॥

मेरे परमभाव को न जानने वाले, अविवेकी मूढ़ मनुष्य, मनुष्य का शरीर धारण किये हुए सम्पूर्ण प्राणियों के ईश्वर, मेरा अनादर करते हैं। ॥९.११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ ॥९.१२॥

मोघ-आशाः, मोघ-क्रर्माणः, मोघ-ज्ञानाः, वि-चेतसः।
राक्षसीम्, आसुरीम्,च, एव, प्रकृतिम्,मोहिनीम्, श्रिताः ॥

वे लोग व्यर्थ आशा वाले, निष्फल कर्म वाले और दूषित ज्ञान वाले, विवेक और विज्ञान से रहित तथा मोह में डालने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति का आश्रय लिए रहते हैं। ॥९.१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्यम् ॥ ॥९.१३॥

महा-आत्मानः, तु, माम्, पार्थ, दैवीम्, प्रकृतिम्, आश्रिताः।
भजन्ति, अनन्य-मनसः, ज्ञात्वा, भूत-आदिम्, अव्ययम् ॥

परंतु हे पार्थ! जिनका चित्त मेरे सिवा कहीं और नहीं जाता, वह महात्मा लोग तो मुझे सम्पूर्ण प्राणियों का कारण और अविनाशी जान कर दैवी प्रकृति का आश्रय और अनन्य मन से युक्त होकर निरंतर मेरी ही उपासना करते हैं। ॥९.१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ ॥९.१४॥

सततम्, कीर्तयन्तः, मोम्, यतन्तः, च, दृढ-व्रताः।
नमस्यन्तः, च, माम्, भक्त्या, नित्य-युक्ताः, उपासते ॥

मुझ में सर्वदा प्रेम से युक्त वह महात्मा लोग निरंतर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ नियमों को धारण करके, मेरे स्वरुप को जानने का प्रयास करते हुए और भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं। ॥९.१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।। ॥९.१५॥

ज्ञान-यज्ञेन, च, अपि, अन्ये, यजन्तः, माम्, उपासते ।
एकत्वेन, पृथक्त्वेन, बहुधा, विश्वतः-मुखम् । ॥

कुछ दुसरे मनुष्य ज्ञानयज्ञ के द्वारा भी पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं। उनमे निर्गुण रूप से, साकार रूप से तथा अनेक प्रकार के देवताओं के रूप में भी सर्वरूप मेरी ही उपासना करते हैं। ॥९.१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ ॥९.१६॥

अहम्, क्रतुः, अहम्, यज्ञः, स्वधा, अहम्, अहम्, औषधम् ।
मन्त्रः, अहम् , अहम्, एव, आज्यम्, अहम्, अग्निः , अहम, हुतम् ॥

मैं ऋतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषधि हूँ, मैं मंत्र हूँ, मैं घृत हूँ, मैं अग्नि हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ। ॥९.१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥ ॥९.१७॥

पिता, अहम्, अस्य, जगतः, माता, धाता, पितामहः ।
वेद्यम्, पवित्रम्, ओंकारः, ऋक्, साम, यजुः, एव, च ॥

इस सम्पूर्ण जगत का पिता मैं हूँ, माता भी मैं हूँ, पोषण करने वाला भी मैं हूँ, पितामाह भी मैं हूँ, तथा मैं ही जानने योग्य पवित्र ओंकार एवं ऋग, साम और यजुर्वेद भी हूँ। ॥९.१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ ॥९.१८॥

गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणम्, सुहृत्।
प्रभवः, प्रलयः, स्थानम्, निधानम्, बीजम्, अव्ययम् ॥

मैं ही कर्म का फल, पोषण करने वाला, प्रभु, साक्षी, भोगस्थान, सुहृदय, शरण, उत्पत्ति, प्रलय और स्थिति का स्थान, लयस्थान तथा अविनाशी बीज हूँ। ॥९.१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ ॥९.१९॥

तपामि, अहम्, अहम्, वर्षम्, निगृह्णामि, उत्सृजामि, च ।
अमृतम्, च, एव, मृत्युः, च, सत्, असत्, च, अहम्, अर्जुन ॥

हे अर्जुन! मैं ही सूर्यरूप से तपता हूँ, मैं ही पूर्ववृष्टि से बरसे हुए जल का आकर्षण करता हूँ तथा मैं ही उसे बरसाता हूँ। अमृत, मृत्यु तथा सत असत सब मैं ही हूँ। ॥९.१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ ॥९.२०॥

त्रै-विद्याः, माम्, सोम-पाः, पूत-पापाः, यज्ञैः, इष्ट्वा, स्वर्गतिम्, प्रार्थयन्ते ।
ते, पुण्यम्, आसाद्य, सुर-इन्द्र-लोकम्, अश्नन्ति, दिव्यान्, दिवि, देव-भोगान् ॥

तीनों वेदों का अनुसरण करने वाले, सोमपान करने वाले, और सोमपान के द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं, वे याज्ञिक लोग यज्ञों द्वारा यजन करके स्वर्गलोक की गति के लिए प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यकारणों के फलस्वरूप स्वर्गलोक में पहुँच कर वहां देवताओं के योग्य दिव्य भोगों को भोगते हैं। ॥९.२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालंक्षीणे पुण्य मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ ॥९.२१॥

ते, तम्, भुक्त्वा, स्वर्ग-लोकम्, विशालम्, क्षीणे, पुण्ये, मर्त्यलोकम्, विशन्ति ।
एवम्, त्रयी-धर्मम्, अनुप्रपन्नाः, गतागतम्, काम-कामाः, लभन्ते ॥

वे उस विस्तृत स्वर्गलोक का भोग करके, पुण्य क्षीण होने पर फिर मनुष्यलोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार तीनो वेदों के अनुसार यज्ञ आदि कर्म करने वाले तथा दिव्य भोगों की इच्छा रखने वाले वे लोग आवागमन को प्राप्त होते हैं। ॥९.२१॥

नन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ॥९.२२॥

अनन्याः, चिन्तयन्तः, माम्, ये, जनाः परि-उपासते।
तेषाम्, नित्य-अभियुक्तानाम्, योगक्षेमम्, वहामि, अहम् ॥

जो लोग अभेद दृष्टि से मेरा चिंतन करते हुए, सब ओर मेरी ही उपासना करते हैं, निरंतर आदरपूर्वक ध्यान में लगे हुए उन पुरुषों के योग क्षेम[51] का मैं निर्वाह करता हूँ। ॥९.२२॥

---

[51] भगवत्स्वरूप की प्राप्ति का नाम 'योग' है और भगवत्प्राप्ति के निमित्त किए हुए साधन की रक्षा का नाम 'क्षेम' है

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ ॥९.२३॥

ये, अपि, अन्य-देवताः, भक्ताः, यजन्ते, श्रद्धया, अन्विताः।
ते, अपि, माम्, एव, कौन्तेय, यजन्ति, अविधि-पूर्वकम् ॥

हे कुन्तीपुत्र! यद्यपि श्रद्धा से युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी अविधि पूर्वक मुझे ही पूजते हैं। ॥९.२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ ॥९.२४॥

अहम्, हि, सर्व-यज्ञानाम्, भोक्ता, च, प्रभुः, एव, च ।
न, तु, माम्, अभिजानन्ति, तत्वेन, अतः, च्यवन्ति, ते ॥

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु भी हूँ। वे अन्यदेवोपासक मुझे यथार्थ रूप से नहीं जानते; इसलिए वह उपासक (फलभोगों के अंत हो जाने पर) गिर जाते हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। ॥९.२४॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ ॥९.२५॥

यान्ति, देव-व्रताः, देवान्, पितृन्, यान्ति, पितृ-व्रताः ।
भूतानि, यान्ति, भूत-इज्याः, यान्ति, मद्-याजिनः,अपि, माम् ॥

देवताओं का पूजन करने वाले- देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों की उपसना करने वाले- पितरों को प्राप्त करते हैं, भूतों की उपासना करने वाले- भूतों के पास पहुँचते हैं और मेरी उपासना प्राप्त करने वाले मुझे प्राप्त होते हैं। अतः मेरे भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता। ॥९.२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ॥९.२६॥

पत्रम्, पुष्पम्, फलम्, तोयम्, यः, मे, भक्त्या, प्रयच्छति ।
तत्, अहम्, भक्ति-उपहृतम्, अश्नामि, प्रयत-आत्मनः ॥

जो मनुष्य मुझे भक्तिपूर्वक, पत्र, पुष्प, फल या जल समर्पित करता है। उस शुद्धचित्त मनुष्य के भक्तिपूर्वक समर्पण किये हुए उन पदार्थों को मैं स्वीकार कर लेता हूँ। ॥९.२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ॥९.२७॥

यत्, करोषि, यत्, अश्नासि, यत्, जुहोषि, ददासि, यत्।
यत्, तपस्यसि, कौन्तेय, तत्, कुरुष्व, मत्-अर्पणम् ॥

हे कुन्तीपुत्र! तुम जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो, जो कुछ दान दो और जो कुछ तप करो वह सब मुझे समर्पित कर दो। ॥९.२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्य से कर्मबंधनैः ।
सन्न्यासयोगमुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ ॥९.२८॥

शुभ-अशुभ-फलैः, एवम्, मोक्ष्यसे, कर्म-बन्धनैः ।
संन्यास-योग-युक्त-आत्मा, विमुक्तः, माम्, उपैष्यसि ॥

इस प्रकार तुम शुभ और अशुभ फल वाले कर्म के बंधनो से मुक्त हो जाओगे। और मुझे सम्पूर्ण कर्मो को अर्पण करके, रूप योग से शुद्धचित्त हो, जीवित रहते हुए भी मुझे प्राप्त हो जाओगे। ॥९.२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ ॥९.२९॥

समः, अहम्, सर्व-भूतेषु, न, मे, द्वेष्यः, अस्ति, न, प्रियः ।
ये, भजन्ति, तु, माम्, भक्त्या, मयि, ते, तेषु, च, अपि, अहम् ॥

मैं समस्त प्राणिओं के प्रति समान दृष्टि रखता हूँ, मेरा न तो कोई द्वेषपात्र है और न ही प्रिय है। जो मेरा भक्तिपूर्वक भजन करते हैं मैं उनमे हूँ तथा वो मुझमें हैं। ॥९.२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ॥९.३०॥

अपि, चेत्, सु-दुर्-आचारः, भजते, माम्, अनन्य-भाक्।
साधुः, एव, सः, मन्तव्यः, सम्यक्, व्यवसितः, हि, सः ।।

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मेरा भजन करता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। अर्थात् उसने भली भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के मनन, चिंतन और भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है। ॥९.३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ॥९.३१ ॥

क्षिप्रम्, भवति, धर्मात्मा, शश्वत्, शान्तिम्, निगच्छति ।
कौन्तेय, प्रतिजानीहि, न, में, भक्तः, प्रणश्यति ॥

मेरा भजन करने से दुराचारी भी तत्काल धर्मात्मा हो जाता है तथा निरंतर शान्ति को प्राप्त होता है। हे कुन्तीपुत्र! तुम निश्चयपूर्वक सत्य जान लो कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता। ॥९.३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ॥९.३२॥

माम्, हि, पार्थ, व्यपाश्रित्य, ये, अपि, स्युः, पाप-योनयः।
स्त्रियः, वैश्याः, तथा, शूद्राः, ते, अपि, यान्ति, परम्, गतिम् ॥

हे पार्थ! मेरा आश्रय लेकर जो पशु-पक्षी इत्यादि पाप योनि हैं। तथा जो स्त्री, वैश्य और शूद्र योनि हैं, वे भी परमगति को प्राप्त हो जाते हैं। ॥९.३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ॥९.३३॥

किम्, पुनः, ब्राह्मणाः, पुण्याः, भक्ताः, राज-ऋषयः, तथा ।
अनित्यम्, अलुखम्, लोकम्, इमम्, प्राप्य, भजस्व, माम् ॥

फिर सदाचारी और उत्तमयोनि में उत्पन्न हुए मेरे भक्त, ब्राह्मण तथा राजऋषिओं का तो कहना ही क्या है। अतः इस अनित्य सुखहीन लोक को पाकर मेरा भजन कर। ॥९.३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ॥९.३४॥

मत्, मनाः, भव, मत्-भक्तः, मत्-याजी, माम्, नमस्कुरु।
माम्, एव, एष्यसि, युक्त्वा, एवम्, आत्मानम्, मत्-परायणः ॥

तुम मुझ में मन रमाने वाले, मेरे भक्त तथा मेरा पूजन करने वाले बनो तथा मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मेरी ही शरण में आकर मुझ में ही चित्त लगा कर तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। ॥९.३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का राजविद्या गोपनीययोग नामक नवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ दशमोध्यायः विभूतियोगः

दसवाँ अध्याय : विभूतियोग

श्रीभगवानुवाचः

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ ॥१०.१॥

भूयः, एव, महाबाहो, श्रृणु, मे, परमम्, वचः ।
यत्, ते, अहम्, प्रीयमाणाय, वक्ष्यामि, हित-काम्यया ॥

श्री भगवान् बोले :

हे महाबाहो! तुम फिर भी मेरा यह श्रेष्ठ वचन सुनो जो मेरे प्रति अतिशय प्रेमयुक्त हुए तुमसे मैं हित की दृष्टि से कहूँगा। ॥१०.१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ ॥१०.२॥

न, मे, विदुः, सुरगणाः, प्रभवम्, न, महर्षयः।
अहम्, आदिः, हि, देवानाम्, महर्षीणाम् , च, सर्वशः ॥

मेरे प्रभाव या उत्पत्ति को देवता या महर्षि गण नहीं जानते क्योंकि सब प्रकार से मैं ही देवता और महाऋषिओं का आदिकारण हूँ। ॥१०.२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ॥१०.३॥

यः, माम्, अजम्, अनादिम्, च, वेत्ति, लोक-महा-ईश्वरम् ।
अ-सम्मूढः, सः, मर्येषु, सर्व-पापैः, प्रमुच्यते ॥

जो मुझे अजन्मा अनादि और समस्त लोकों का महान ईश्वर जानता है, वह मनुष्य सम्मोह से रहित हो सब पापों से सर्वदा मुक्त हो जाता है। ॥१०.३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ॥१०.४॥

बुद्धिः, ज्ञानम्, असंमोहः, क्षमा, सत्यम्, दमः, शमः ।
सुख, दुःखम्, भवः, अभावः, भयम्, च, अभयम्, एव, च ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ॥१०.५॥

अहिंसा, समता, तुष्टिः, तपः, दानम्, यशः, अयशः ।
भवन्ति, भावाः, भूतानाम्, मत्तः, एव, पृथक-विधाः ॥

बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख दुःख, उत्पत्ति, सत्ता, भय अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश - ये सब प्राणिओं के तरह तरह के भाव मुझ से ही उत्पन्न होते हैं। ॥१०.४-१०.५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ॥१०.६॥

महा-ऋषयः, सप्त, पूर्वे, चत्वारः, मनवः, तथा ।
मद्भावाः, मानसाः, जाताः, येषाम्, लोके, इमाः, प्रजाः ॥

जिनकी लोक में यह सारी प्रजा है, वह पूर्ववर्ती सात महर्षि[52] और चारों स्वयंभुव मनु मेरा ही चिंतन करने वाले थे और मेरे ही संकल्प से उत्पन्न हुए थे। ॥१०.६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ॥१०.७॥

एताम्, विभूतिम्, योगम्, च, मम, यः, वेत्ति, तत्त्वतः।
सः, अविकम्पेन, योगेन, युज्यते, न, अत्र, संशयः ॥

जो मनुष्य मेरी इस विभूति और योग को शाश्वत जानता है, वह निश्चल योग से युक्त होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। ॥१०.७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ॥१०.८॥

अहम्, सर्वस्य, प्रभवः, मत्तः, सर्वम्, प्रवर्तते।
इति, मत्वा, भजन्ते, माम्, बुधाः, भाव-समन्विताः ॥

मैं सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का मूल कारण हूँ , यह सब मुझसे ही प्रवृत होता है ऐसा मान कर श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धिमान् भक्तजन भावसहित मेरा भजन करते हैं। ॥१०.८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ॥१०.९॥

मत्-चित्ताः, मत्-गत-प्राणाः, बोधयन्तः, परस्परम्।

---

[52] भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ

कथयन्तः, च, माम्, नित्यम्, दुष्यन्ति, च, रमन्ति, च ॥

मुझ में ही जिनका चित्त लगा हुआ है, मुझ में ही जिन्होंने अपनी सारी इन्द्रियां लगा दी हैं, जो विद्वानों की सभा में, आपस में, मेरे ही स्वरुप का ज्ञान उपदेश करते हुए सर्वदा मेरा ही चिंतन करते हैं। वह बुद्धिमान् भक्तजन संतोष और सुख का अनुभव करते रहते हैं। ॥१०.९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ ॥१०.१०॥

तेषान्, सतत-युक्तानाम्, भजताम्, प्रीति-पूर्वकम्।
ददामि, बुद्धि-योग, तम्, येन, माम्, उपयान्ति, ते ॥

सर्वदा योगयुक्त तथा प्रेमपूर्वक भजन करने वाले उन लोगों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वो मुझे प्राप्त हो जाते हैं। ॥१०.१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥१०.११ ॥

तेषाम्, एव, अनुकम्पार्थम्, अहम्, अज्ञान-जम्, तमः।
नाशयामि, आत्म-भाव-स्थः, ज्ञान-दीपेन, भास्वता ॥

हे अर्जुन! उन्ही पर कृपा करने के लिए मैं चित्त की आत्मकार वृत्ति में स्थित प्रकाशमय ज्ञानदीप से अज्ञान जनित अन्धकार का नाश कर देता हूँ। ॥१०.११॥

अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति तथा विभूति और योगशक्ति को कहने के लिए प्रार्थना

अर्जुन उवाच :

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ ॥१०.१२॥

परम्, ब्रह्म, परम्, धाम, पवित्रम्, परमम्, भवान् ।
मनुष्यम्, शाश्वतम्, दिव्यम्, आदिदेवम्, अजम्, विभुम् ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ ॥१०.१३॥

आहुः, त्वाम्, ऋषयः सर्वे, देव-ऋषिः, नारदः, तथा ।
असितः, देवलः, व्यासः, स्वयम्, च, एव, ब्रवीषि, मे ॥

अर्जुन बोले :

आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, क्योंकि आप परब्रह्म, परम आश्रय रूप और परम पवित्र हैं, समस्त ऋषि, देवऋषि नारद,असित, देवल और व्यास आपको परमात्मा, सर्वदा एकरूप, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और विभु बताते हैं तथा स्वयं आप भी मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं। ॥१०.१२ - १०.१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ ॥१०.१४॥

सर्वम्, एतत्, ऋतम्, मन्ये, यत्, माम्, वदसि, केशव।
न, हि, ते, भगवन्, व्यक्तिम्, विदुः देवाः, न, दानवाः ॥

हे केशव! आप मुझसे जो कुछ कहते हैं मैं उसे सत्य मानता हूँ। भगवन! आपके प्रभाव को देवता और दानव भी नहीं जानते। ॥१०.१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ ॥१०.१५॥

स्वयम्, एव, आत्मना, आत्मानम्, वेत्थ, त्वम्, मनुष्य-उत्तम।
भूत-भावन, भूत-ईश, देव-देव, जगत्-पते ॥

समस्त भूतों को उत्पन्न करने वाले, समस्त प्राणिओं के नियंता, देवों के देव, जगत के स्वामी, हे पुरुषोत्तम ! आप अपने निरुपाधिक और सोपाधिक स्वरुप को स्वरुप से स्वयं ही जानते हैं। ॥१०.१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ ॥१०.१६॥

वक्तुम्, अर्हसि, अशेषेण, दिव्याः, हि, आत्म-विभूतयः।
याभिः, विभूतिभिः, लोकान्, इमान्, त्वम्, व्याप्य, तिष्ठसि ॥

इसलिए आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियों को संपूर्णता से कहने में समर्थ हैं, जिन विभूतियों द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं। ॥१०.१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ ॥१०.१७॥

कथम्, विद्याम्, अहम्, योगिन्, त्वाम्, सदा, परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च, भावेषु, चिन्त्यः, असि, भगवन्, मया ।।

हे योगेश्वर! आपका सर्वदा चिंतन करते हुए मैं आपको किस प्रकार जान सकता हूँ ? और भगवन! किन किन पदार्थों से मुझे आपका चिंतन करन चाहिए ? ॥१०.१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ ॥१०.१८॥

विस्तरेणं, आत्मनः, योगम्, विभूतिम्, च, जनार्दन ।
भूयः, कथय, तृप्तिः, हि, श्रृण्वतः, न, अस्ति, मे, अमृतम् ॥

हे जनार्दन! अपनी योगशक्ति को और विभूति को एक बार पुन: विस्तारपूर्वक कहिए, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुनने की इच्छा बनी ही रहती है। ॥१०.१८॥

श्रीभगवानुवाचः

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ ॥१०.१९॥

हन्त, ते, कथयिष्यामि, दिव्याः, हि, आत्म-विभूतयः ।
प्राधान्यतः, कुरु-श्रेष्ठ, न, अस्ति, अन्तः, विस्तरस्य, में ॥

श्री भगवान बोले :

हे कुरुश्रेष्ठ! मैं प्रधानतया अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अंत नही है। ॥१०.१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ ॥१०.२०॥

अहम्, आत्मा, गुडाकेश, सर्व-भूत-आशय-स्थितः ।
अहम्, आदिः, च, मध्यम्, च, भूतानाम्, अन्तः, एव, च ॥

हे गुडाकेश! मैं समस्त प्राणिओं के अंत:करण में स्थित आत्मा हूँ तथा संपूर्ण जीवों का आदि, मध्य और अंत भी मैं ही हूँ। ॥१०.२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ ॥१०.२१॥

आदित्यानाम्, अहम्, विष्णुः, ज्योतिषाम्, रविः, अंशुमान् ।
मरीचिः, मरुताम्, अस्मि, नक्षत्राणाम्, अहम्, शशी ॥

मैं आदित्यों (अदिति के पुत्र) में विष्णु हूँ, प्रकाशशीलों में विश्वव्यापी प्रकाश करने वाला सूर्य हूँ, मरुतों में मरीचि हूँ और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ। ॥१०.२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ ॥१०.२२॥

वेदानाम्, सामवेदः, अस्मि, देवानाम्, अस्मि, वासवः।
इन्द्रियाणाम्, मनः, च, अस्मि, भूतानाम्, अस्मि, चेतना ॥

वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में मैं इंद्र हूँ, इन्द्रियों में मैं मन हूँ और प्राणिओं में मैं चेतना (जीवन शक्ति) हूँ। ॥१०.२२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ ॥१०.२३॥

रुद्राणाम्, शंकरः, च, अस्मि, वित्त-ईशः, यक्ष-रक्षसाम् ।
वसनाम्, पावकः, च, अस्मि, मेरुः, शिखरिणाम्, अहम् ॥

मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ और यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओं में अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ। ॥१०.२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ ॥१०.२४॥

पुरोधसाम्, च, मुख्यम्, माम्, विद्धि, पार्थ, बृहस्पतिम् ।
सेनानीनाम्, अहम् स्कन्दः, सरसाम्, अस्मि, सागरः ॥

हे पार्थ ! तुम मुझे पुरोहितों में प्रधान बृहस्पति जानो, सेनापतियों में मैं स्कन्द (कार्तिकेय स्वामी) हूँ तथा जलाशयों में मैं सागर हूँ। ॥१०.२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ ॥१०.२५॥

महर्षीणाम्, भृगुः, अहम्, गिराम्, अस्मि, एकम्, अक्षरम्।
यज्ञानाम्, जप-यज्ञः, अस्मि, स्थावराणाम्, हिमालयः ॥

सात महाऋषियों में मैं भृगु हूँ, वाणी में एकाक्षर - ओंकार मैं हूँ। यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ तथा अविचल स्थिति वालों में हिमालय मैं हूँ। ॥१०.२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ ॥१०.२६॥

अश्वत्थः, सर्व-वृक्षाणाम्, देवऋषीणाम्, च, नारदः ।
गन्धर्वाणाम्, चित्ररथः, सिद्धानाम्, कपिलः, मुनिः ॥

समस्त वृक्षों में अश्वथ, देवऋषिओं में नारद, गंधर्वों में चित्ररथ तथा सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। ॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
एरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ ॥१०.२७॥

उच्चैःश्रवसम्, अश्वानाम्, विद्धि, माम्, अमृत-उद्भवम्।
ऐरावतम्, गजेन्द्राणम्, नराणाम्, च, नर-अधिपम् ॥

अश्वों में तुम मुझे अमृत मंथन के समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा नामक अश्व , श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मुझको जानो। ॥१०.२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ ॥१०.२८॥

आयुधानाम्, अहम्, वज्रम्, धेनूनाम्, अस्मि, कामधुक।
प्रजनः, च, अस्मि, कन्दर्पः, सपणाम्, अस्मि, वासुकिः॥

आयुधों में मैं वज्र हूँ, दुग्ध देने वाली गौओं में कामधेनु मैं हूँ, पुत्रोत्पत्ति करने वाला कामदेव मैं हूँ, तथा सर्पों में वासुकि मैं हूँ। ॥१०.२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ ॥१०.२९॥

अनन्तः, च, अस्मि, नागानाम्, वरुणः, यादसाम्, अहम्।
पितृणाम्, अर्यमा, च, अस्मि, यमः, संयमताम्, अहम् ॥

मैं नागों में अनंत हूँ , जलचरों में वरुण हूँ, पितृगण में आर्यमा तथा और नियम रखने वालों में यम हूँ। ॥१०.२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ॥१०.३०॥

प्रह्लादः, च, अस्मि, दैत्यानाम् , कालः, कलयताम् , अहम् ।
मृगाणाम्, च, मृग-इन्द्रः, अहम्, वैनतेयः, च, पक्षिणाम् ॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गणना करने वालों में काल हूँ, पशुओं में सिंह हूँ तथा पक्षियों में गरुड़ हूँ। ॥१०.३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ॥१०.३१॥

पवनः, पवताम् , अस्मि, रामः, शस्त्र-भृताम, अहम्।
झषाणाम्, मकरः, च, अस्मि, स्रोतसाम्, अस्मि, जाह्नवी ॥

मैं पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में श्रीराम हूँ तथा मतस्यों में मगर हूँ और नदियों में श्री भागीरथी गंगाजी हूँ। ॥१०.३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ॥१०.३२॥

सर्गाणाम्, आदिः, अन्तः, च, मध्यम्, च, एव, अहम्, अर्जुन ।
अध्यात्म-विद्या, विद्यानाम्, वादः, प्रवदताम्, अहम् ॥

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, मध्य और अंत भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या और परस्पर विवाद करने वालों का तत्व-निर्णय के लिए किया जाने वाला वाद हूँ। ॥१०.३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ॥१०.३३॥

अक्षराणाम् , अकारः, अस्मि, द्वन्द्वः, सामासिकस्य, च।

अहम्, एव, अक्षयः, कालः, धाता, अहम्, विश्वतः-मुखः ॥

मैं अक्षरों में अकार हूँ, समासों में द्वन्द समास हूँ, मास संवत्सर आदि क्षयशील कालों में मैं ही अक्षयकाल हूँ और कर्मफल देने वालों में मैं सब और मुख वाला विधाता (ईश्वर) हूँ। ॥१०.३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ॥१०.३४॥

मृत्युः, सर्व-हरः, च, अहम्, उद्भवः, च, भविष्यताम्।
कीर्तिः, श्रीः, वाक्, च, नारीणाम्, स्मृतिः, मेधा, धृतिः, क्षमा॥

संहार करने वालों में मैं सबका संहार करने वाला मृत्यु हूँ, भावी कल्याणों में मैं उत्कर्ष हूँ तथा स्त्रियों में श्री, कीर्ति, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा - यह सात धर्मपत्नियाँ हूँ। ॥१०.३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ॥१०.३५॥

बृहत्साम, तथा, साम्नाम्, गायत्री, छन्दसाम्, अहम् ।
मासानाम्, मार्गशीर्षः, अहम्, ऋतूनाम्, कुसुम-आकरः ॥

साम में मैं वृहत्साम हूँ, छंदों में गायत्री हूँ, महीनो में मार्गशीष हूँ तथा ऋतुओं में वसंत हूँ। ॥१०.३५॥

द्युतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ॥१०.३६॥

द्यूतम्, छलयताम्, अस्मि, तेजः, तेजस्विनाम्, अहम् ।
जयः, अस्मि, व्यवसायः, अस्मि, सत्वम्, सत्ववताम्, अहम् ॥

मैं दूसरों से छल करने वालों का जुआ हूँ, तेजस्वीयों का तेज मैं हूँ, विजेताओं का जय और व्यवसायिओं का व्यवसाय हूँ तथा मैं ही सात्विक पुरुषों का सत्वगुण हूँ। ॥१०.३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ॥१०.३७॥

वृष्णीनाम्, वासुदेवः, अस्मि, पाण्डवानाम्, धनंजयः।
मुनीनाम्, अपि, अहम्, व्यासः, कवीनाम्, उशना, कविः ॥

वृष्णिवंशियों में वासुदेव पुत्र मैं हूँ, पांडवों में अर्जुन मैं हूँ, मुनिओं में भी व्यास मैं हूँ, और कवियों में शुक्राचार्य मैं हूँ। ॥१०.३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ॥१०.३८॥

दण्डः, दमयताम्, अस्मि, नीतिः, अस्मि, जिगीषताम्।
मौनम्, च, एव, अस्मि, गुह्यानाम्, ज्ञानम्, ज्ञानवताम्, अहम् ॥

मैं दमन करने वालों के लिए दंड हूँ, जय की इच्छा वालों के लिए निति हूँ, गोपनीय वस्तुओं में मौन हूँ और ज्ञान वालों का ज्ञान हूँ। ॥१०.३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ॥१०.३९॥

यत्, च, अपि, सर्व-भूतानाम्, बीजम्, तत्, अहम्, अर्जुन ।
न, तत्, अस्ति, विना, यत्, स्यात्, मया, भूतम्, चर-अचरम् ॥

हे अर्जुन! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसी कोई स्थावर या जंगम वस्तु नहीं है, जो मुझसे रहित हो। ॥१०.३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ॥१०.४०॥

न, अन्तः, अस्ति, मम, दिव्यानाम्, विभुतीनाम्, परंतप ।
एषः, तु, उद्देशतः, प्रोक्तः, विभूतेः, विस्तरः, मया ॥

हे शत्रुदमन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अंत नहीं है यह तो मैंने अपनी विभूतियों के विस्तार का अंशत: वर्णन किया है। ॥१०.४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ॥१०.४१॥

यत्, यत्, विभूतिमत्, सत्त्वम्, श्रीमत्, ऊर्जितम्, एव, वा ।
तत्, तत्, एव, अवगच्छ, त्वम्, मम, तेजः-अंश-संभवम् ॥

जो जो प्राणी ऐश्वर्ययुक्त, शोभा संपन्न और बल आदि के अतिशय से युक्त हो, उनको तुम मेरे तेज के नाश से उत्पन्न प्रकट हुआ जानो। ॥१०.४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ॥१०.४२॥

अथवा, बहुना, एतेन, किम्, ज्ञातेन, तव, अर्जुन ।
विष्टभ्य, अहम्, इदम्, कृत्स्नम्, एक-अंशेन, स्थितः, जगत् ॥

अथवा अर्जुन! इस प्रकार के सटीक ज्ञान से क्या विशेष प्रयोजन है? मैं तो अपने एक अंश से इस सम्पूर्ण जगत में प्रविष्ट होकर स्थित हूँ। ॥१०.४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायांयोगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का विभूति योग नामक दसवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ एकादश अध्यायः विश्वरूपदर्शनयोगः

ग्यारहवाँ अध्याय: विश्वरूप दर्शन योग

अर्जुन उवाच:

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ ॥११.१॥

मत्-अनुग्रहाय, परमम्, गुह्यम्, अध्यात्म-संज्ञितम् ।
यत्, त्वया, उक्तम्, वचः, तेन, मोहः, अयम्, विगतः, मम ॥

अर्जुन बोले :

मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने जो आध्यात्म नाम का अत्यंत रहस्यमय तथा गुप्त रखने योग्य वचन कहा है। उससे मेरा अज्ञान तथा मोह दूर हो गया है। ॥११.१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ ॥११.२॥

भव-अप्ययौ, हि, भूतानाम्, श्रुतौ, विस्तरशः मया ।
त्वत्तः, कमल-पत्र-अक्ष, माहात्म्यम्, अपि, च, अव्ययम् ॥

हे कमलदललोचन! मैंने आपसे विस्तारपूर्वक जीवों की उत्पत्ति, प्रलय और आपका अक्षय महातम्य भी सुना है। ॥११.२॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ॥११.३॥

एवम्, एतत्, यथा, आत्थ. त्वम्, आत्मानम्, परमेश्वर ।
द्रष्टुम्, इच्छामि, ते, रूपम्, ऐश्वरम्, मनुष्य-उत्तम ॥

हे परमेश्वर ! आप अपने विषय में जैसा कहते हैं, वस्तुतः वैसा ही है, परन्तु हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ईश्वरीय स्वरुप का दर्शन करना चाहता हूँ। ॥११.३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ॥११.४॥

मन्यसे, यदि, तत्, शक्यम्, मया, द्रष्टुम्, इति, प्रभो।
योग-ईश्वर, ततः, मे, त्वम्, दर्शय, आत्मानम्, अव्ययम् ॥

प्रभु ! यदि आप अपने उस रूप को मेरे द्वारा देखे जाने योग्य समझते हैं, तो हे योगेश्वर, मुझे अपना वह अविनाशी स्वरुप दिखाइए। ॥११.४॥

श्रीभगवानुवाचः

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ॥११.५॥

पश्य, मे, पार्थ, रूपाणि, शतशः, अथ, सहस्रशः।
नाना-विधानि, दिव्यानि, नाना-वर्ण-आकृतीनि, च ॥

श्री भगवान बोले :

हे पार्थ! तुम मेरे विभिन्न प्रकार के और अनेकों वर्ण और आकार के सैकड़ों हज़ारों दिव्य अलौकिक रूप को देखो। ॥११.५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ॥६ ॥

पश्य, आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ, मरुतः, तथा ।
बहूनि, अदृष्ट-पूर्वाणि, पश्य, आश्चर्याणि, भारत ॥

हे भरतवंशी अर्जुन! सूर्य, वसु, रूद्र, अश्विनीकुमारों तथा मरुद्गणों को देखो तथा और भी अन्य आश्चर्यमय रूपों को देखो जिन्हें तुमने पहले नहीं देखा। ॥११.६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टमिच्छसि ॥ ॥११.७॥

इह, एक-स्थम्. जगत्. कृत्स्नम्. पश्य, अद्य, सचराचरम् ।
मम, देहे, गुडाकेश, यत्, च, अन्यत्, द्रष्टुम् इच्छसि ॥

हे गुडाकेश ! आज यहाँ मेरे इस शरीर में सम्पूर्ण चराचर जगत तथा और जो भी कुछ देखना चाहते हो वह एक ही स्थान पर स्थित देख लो। ॥११.७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ॥११.८॥

न, तु, माम्, शक्यसे, द्रष्टुम्, अनेन, एव, स्व-चक्षुषा ।
दिव्यम्, ददामि, ते, चक्षुः, पश्य, में, योगम्, ऐश्वरम् ॥

परन्तु तुम मेरे इस दिव्य रूप को अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसंदेह समर्थ नहीं हो, मैं तुम्हे दिव्य नेत्र देता हूँ उससे तुम मेरा ईश्वरीय रूप देखो। ॥११.८॥

संजय उवाच:

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ॥११.९॥

एवम्, उक्त्वा, ततः, राजन्, महा-योग-ईश्वरः, हरिः ।
दर्शयामास, पार्थाय, परमम्, रूपम्, ऐश्वरम् ॥

संजय बोले :

हे राजन ! तब महायोगीश्वर हरिहर ने ऐसा कहकर अर्जुन को अपने ईश्वरीय दिव्य और अलौकिक रूप का दर्शन दिया। ॥११.९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ ॥११.१०॥

अनेक-वक्त्र-नयनम्, अनेक-अद्भुत-दर्शनम् ।
अनेक-दिव्य-आभरणम्, दिव्य-अनेक-उद्यत-आयुधम् ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ॥११.११ ॥

दिव्य-माल्य-अम्बर-धरम्, दिव्य-गन्ध.अनुलेपनम् ।
सर्व-आश्चर्य-मयम्, देवम्, अनन्तम्, विश्वतः-मुखम् ॥

श्री भगवान् ने ऐसा रूप दिखाया जो अनेकों मुख और नेत्रों वाला, अनेकों अद्भुत दृश्यों वाला अनेकों दिव्य आभूषणों वाला, अनेक दिव्य शस्त्रोंवाला, दिव्य माला और शस्त्र धारण किये, दिव्य गंध वाले अनुलेपनों से युक्त, सम्पूर्ण आश्चर्यों से पूर्ण, प्रकाशमय, अनंत और सब ओर मुख वाला था। ॥११.१०-११.११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ ॥११.१२॥

दिवि, सूर्य-सहस्रस्य, भवेत्, युगपत्, उत्थिता ।
यदि, भाः, सदृशी, सा, स्यात्, भासः, तस्य, महात्मनः ॥

यदि आकाश में सहस्त्रों सूर्य एक साथ उत्पन्न हो जाएँ तो वह प्रकाश उस विश्व रूप परमात्मा के तेज के सामान कदाचित ही हो सकता है अर्थात दोनों की कोई तुलना नहीं है। ॥११.१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ ॥११.१३॥

तत्र, एक-स्थम्, जगत्, कृत्स्नम्, प्रविभक्तम्, अनेक-धा।
अपश्यत्, देव-देवस्य, शरीरे, पाण्डवः, तदा ॥

तब अर्जुन ने उन देवों के देव श्री कृष्ण के शरीर में, एक ही जगह में स्थित, अनेक प्रकार से विभक्त सम्पूर्ण विश्व का दर्शन किया। ॥११.१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ ॥११.१४॥

ततः, सः, विस्मय-आविष्टः, हृष्ट-रोमा, धनञ्जयः।
प्रणम्य, शिरसा, देवम्, कृत-अञ्जलिः, अभाषत ॥

तब विस्मय से भरे हुए रोमांचित अर्जुंन ने श्री भगवान् को श्रद्धापूर्वक सिर से प्रणाम कर, हाथ जोड़ कर कहा: ॥११.१४॥

अर्जुन उवाचः

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ ॥११.१५॥

पश्यामि, देवान्, तव, देव, देहे, सर्वान्, तथा, भूत-विशेष-संघान् ।
ब्रह्माणम्, ईशम्, कमल-आसन-स्थम्, ऋषीन्, च, सर्वान्, उरगान, च, दिव्यान् ॥

अर्जुन बोले :

हे देव! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवता, स्थावर जंगम जीव समूह, कमलासन पर विराजमान लोकनायक ब्रह्मा जी, समस्त ऋषि तथा दिव्य सर्पों को भी देख रहा हूँ। ॥११.१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रंपश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिंपश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ ॥११.१६॥

अनेक-वाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रम्, पश्यामि, त्वाम्, सर्वतः, अनन्त-रूपम् ।
न, अन्तम्, न, मध्यम्, न, पुनः, तव, आदिम्, पश्यामि, विश्व-ईश्वर, विश्व-रूप ॥

हे विश्वेशर! हे विश्वरूप! मैं आपको सर्वत्र अनन्तरूप तथा अनेकों भुजा, उदर, मुख और नेत्रों वाला देख रहा हूँ। मुझे आपका न तो अंत, न मध्य और न आदि ही दिखाई देता है। ॥११.१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ ॥११.१७॥

किरीटिनम्, गदिनम्, चक्रिणम्, च, तेजः-राशिम्, सर्वतः, दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि, त्वाम्, दुर्निरीक्ष्यं, समन्तात्, दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिम्, अप्रमेयम् ॥

मैं आपको मुकुट, गदा, शंख, चक्र धारण किये, तेजपुंज, सर्वत्र दीप्ति शाली, सब ओर अपनी प्रभा फैलाये हुए, अग्नि और सूर्य के सामान तेजोमय तथा

अप्रमेय देखता हूँ अर्थात सभी दिशाओं में आपका रूप चमक रहा है और यह निश्चय नहीं किया जा सकता की आपका रूप किसने सामान है। क्योंकि आपके रूप के समान कोई दिखाई नहीं देता। ॥११.१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यंत्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ॥११.१८॥

त्वम्, अक्षरम्, परमम्, वेदितव्यम्, त्वम्, अस्य, विश्वस्य, परम्, निधानम् ।
त्वम्, अव्ययः, शाश्वत-धर्म-गोप्ता, सनातनः, त्वम्, पुरुषः, मतः, मे ॥

आप मोक्ष की इच्छा करने वालों के लिए जानने योग्य अविनाशी परब्रह्म हैं, आप इस विश्व के श्रेष्ठ आश्रय हैं, आप अविनाशी तथा सनातन धर्म की रक्षा करने वाले हैं। मैं आपको अविनाशी सनातन मनुष्य ही मानता हूँ। ॥११.१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रंस्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ ॥११.१९॥

अनादि-मध्य-अन्तम्, अनन्त-वीर्यम्, अनन्त-बाहुम्, शशिसूर्य-नेत्रम् ।
पश्यामि, त्वाम्, दीप्त-हुताश-वक्त्रम्, स्व-तेजसा, विश्वम्, इदम्, तपन्तम् ॥

मैं आपको आदि, मध्य और अंत से रहित अनंत पराक्रम शील, अनंत भुजाओं वाला, चन्द्रमा और सूर्य के समान नेत्रों वाला, प्रज्वल्लित अग्निसहित मुखों वाला और अपने तेज से इस विश्व को संतप्त किये हुए देखता हूँ। ॥११.१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदंलोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ ॥११.२०॥

द्यावा-पृथिव्योः, इदम्, अन्तरम्, हि, व्याप्तम्, त्वया, एकेन, दिशः, च, सर्वाः।
दृष्ट्वा, अद्भुतम्, रूपम्, उग्रम्, तव, इदम्, लोकत्रयम्, प्रव्यथितम्, महात्मन् ।

स्वर्ग और पृथ्वी का जो यह मध्य भाग है वह तथा सम्पूर्ण दिशाएं भी एकमात्र आप ही से व्याप्त हैं। हे महात्मन! आपका यह अद्भुत उग्ररूप देख कर तीनो लोक अत्यंत व्यथित हो रहे हैं। ॥११.२०॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥
॥११.२१॥

अमी, हि, त्वाम्, सुरसंघाः, विशन्ति, केचित्, भीताः, प्राञ्जलयः, गृणन्ति ।
स्वस्ति, इति, उवा, महर्षी-सिद्ध-संघाः, स्तुवन्ति, वाम्, स्तुतिभिः, पुष्कलाभिः ॥

आप में यह सब देवता समूह प्रवेश कर रहे हैं, कोई डर कर हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं तथा महर्षि और सिद्धों के समूह अर्थपूर्ण स्तुति वाक्यों से आपकी स्तुति कर रहे हैं। ॥११.२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्याविश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घावीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ ॥११.२२॥

रुद्र-आदित्याः, वसवः, ये, चं, साध्याः, विश्वे, अश्विनौ, मरुतः, च, ऊष्पाः , च ।
गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-संघाः, वीक्षन्ते, त्वाम्, विस्मिताः, च, एव, सर्वे ॥

रूद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, अश्वनी कुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगण ये सब आपका दर्शन कर रहे हैं और विस्मित हो रहे हैं। ॥११.२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रंमहाबाहो बहुबाहूरूपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालंदृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ ॥११.२३॥

रूपम्, महत्, ते, बहु-वक्त्र-नेत्रम्, महा-बाहो, बहु-बाहुऊरु-पादम्।

बहु-उदरम्, बहु-दंष्ट्रा-करालम्, दृष्ट्वा, लोकाः, प्रव्यथिताः, तथा, अहम् ॥

हे महाबाहो! आपके अनेकों मुख और नेत्रों वाला, अनेकों भुजा, जंघा और चरण वाला, अनेकों पेट, अनेकों पैनी दाढ़ों वाला यह अद्भुत रूप देख कर समस्त संसार व्यथित हो रहा है और मैं भी व्यथित हो रहा हूँ। ॥११.२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णंव्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥
॥११.२४॥

नभः-स्पृशम्, दीप्तम्, अनेक-वर्णम्, व्यात्त-आननम्, दीप्तविशाल-नेत्रम् ।
दृष्ट्वा, हि, त्वाम्, प्रव्यथित-अन्तरात्मा, धृतिम्, न, विन्दामि, शमम्, च, विष्णो ॥

हे विष्णो! जो आकाश को स्पर्श कर रहे हैं, तेजोमय हैं, अनेकों वर्णों के हैं, फैलाये हुए मुख वाले हैं और देदीप्यमान विशाल नेत्रों से युक्त हैं, ऐसे आपको देख कर मेरा अंत:करण बहुत व्यथित हो रहा है तथा मुझे धैर्य एवं शांति का अनुभव नहीं होता। ॥११.२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानिदृष्टैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ॥११.२५॥

दंष्ट्रा-करालानि, च, ते, मुखानि, दृष्ट्वा, एव, काल-अनल-सन्निभानि ।
दिशः, न, जाने, न, लभे, च, शर्म, प्रसीद, देव-ईश, जगत्-निवास ॥

जो दाढ़ों के कारण अत्यंत भयंकर जान पड़ते हैं, ऐसे आपके कालाग्नि सदृश्य मुख को देख कर मुझे न तो दिशाओं का ज्ञान होता है और न ही शांति ही मिलती है। हे जगत के निवास स्थान भूत देवेश्वर! प्रसन्न होइए। ॥११.२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ ॥११.२६॥

अमी, च, त्वाम्, धृतराष्ट्रस्य, पुत्राः सर्वे, सह, एव, अवनि-पाल-संधैः।
भीष्मः, द्रोण:, सूत्र-पुत्रः, तथा, असो, सह, अस्मदीयैः, अपि, योध-मुख्यैः ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ ॥११.२७॥

वक्त्राणि, ते, त्वरमाणाः, विशन्ति, दंष्ट्रा-करालानि, भयानकानि ।
केचित्, विलग्नाः, दशन-अन्तरेषु, संदृश्यन्ते, चूर्णितः, उत्तमाङ्गैः ॥

राजाओं के समूहों के सहित यह धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा हमारे प्रधान योद्धों के सहित, भीष्म, द्रोणाचार्य और यह कारण अत्यंत शीघ्रता से आपकी दाढ़ों के कारण कठोर और भयानक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं तथा कुछ दांतों के बीच में लगे हुए अपने चूर्णित मस्तकों के साथ दिखाई दे रहे हैं। ॥११.२६ - ११.२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीराविशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ ॥११.२८॥

यथा, नदीनाम्, बहवः, अम्बु-वेगाः, समुद्रम्, एव, अभिमुखाः, द्रवन्ति ।
तथा, तव, अमी., नर-लोक-वीराः, विशन्ति, वक्त्राणि, अभि-विज्वलन्ति ॥

जिस प्रकार नदियों के अनेकों जलप्रवाह केवल समुद्र की और ही बहते हैं उसी प्रकार यह वीर मनुष्य आपके चारों ओर से प्रज्वल्लित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। ॥११.२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगाविशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ ॥११.२९॥

यथा, प्रदीप्तम्, ज्वलनम्, पतङ्गाः, विशन्ति, नाशाय, समृद्ध-वेगाः ।
तथा, एव, नाशाय, विशन्ति, लोकाः, तव, अपि, वक्त्राणि, समृद्ध-वेगाः ॥

जिस प्रकार बढे हुए वेग वाले पतंगे, अपने नाश के लिए प्रज्वल्लित अग्नि में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार यह लोग नाश के लिए ही तीव्र गति से आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं। ॥११.२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रंभासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ॥११.३०॥

लेलिह्य से, ग्रसमानः, समन्तात्, लोकान्, समग्रान्, वदनैः, ज्वलद्भिः ।
तेजोभिः, आपूर्य, जगत्, समग्रम्, भासः, तव, उग्राः, प्रतपन्ति, विष्णो ॥

अपने प्रज्वल्लित मुख से सम्पूर्ण लोकों को सब ओर से लीलते हुए आप उनका आस्वादन कर रहे हैं। हे विष्णो! आपका प्रचंड तेज आपके तेज प्रकाश से सम्पूर्ण जगत को व्याप्त कर उसे तपा रहा है। ॥११.३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपोनमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यंन हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ॥११.३१॥

आख्याहि, में, कः, भवान्, उग्र-रूपः, नमः, अस्तु, ते, देववर, प्रसीद ।
विज्ञातुम् , इच्छामि, भवन्तम्, आद्यम्, न. हि, प्रजानामि, तव, प्रवृत्तिम् ॥

देवश्रेष्ठ! मुझे बताइये की उग्ररूप आप कौन हैं ? आपको नमस्कार है , आप प्रसन्न होइए। मैं सबके आदि कारण रूप आपको विशेषरूप से जानना चाहता हूँ। आपकी प्रवृति से मैं परिचित नहीं हूँ। ॥११.३१॥

श्रीभगवानुवाच:

**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
॥११.३२॥**

*कालः, अस्मि, लोक-क्षय-कृत्, प्रवृद्धः, लोकान्, समाह तुम्, इह, प्रवृत्तः।
ऋते, अपि, त्वाम्, न, भविष्यन्ति, सर्वे, ये, अवस्थिताः, प्रत्यनीकेषु, योधाः ॥*

श्री भगवान बोले :

मैं लोकों का क्षय करने के लिए बढ़ा हुआ काल हूँ। मैं यहाँ लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत हुआ हूँ। यहाँ प्रतिपक्षियों के सेना में जो भी योद्धा उपस्थित हैं, वह सब तुम्हारे युद्ध न करने पर भी नहीं बचेंगे। ॥ ११.३२॥

**तस्मात्त्वमुक्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ॥११.३३॥**

*तस्मात् त्वम्, उत्तिष्ठ, यशः, लभस्व, जित्वा, शत्रन्, भुङ्क्ष्व, राज्यम्, समृद्धम् ।
मया, एव, एते, निहताः, पूर्वम्, एव, निमित्त-मात्रम्, भव, सव्य-साचिन् ॥*

अतः हे अर्जुन! खड़े हो जाओ और शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त करो तथा वैभवपूर्ण राज्य भोगो। इस सभी को तो मैंने पहले से ही मार रखा है, तुम केवल इसे कारक, निमित्त मात्र बन जाओ। ॥११.३३॥

**द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठायुध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ॥११.३४॥**

*द्रोणम्, च, भीष्मम्, च, जयद्रथम्, च, कर्णम्, तथा, अन्यान्, अपि, योधवीरान् ।
मया, हतान्, त्वम्, जहि, मो, व्यथिष्ठाः, युध्यस्व, जेता, असि, रणे, सपत्नान् ॥*

तुम मेरे द्वारा मारे हुए, द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा दुसरे भी वीर योद्धाओं को मारो। भय से व्यथित न होकर युद्ध करो, तुम संग्राम में क्षेत्रों को जीतोगे। ॥११.३४॥

संजय उवाच:

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णंसगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ॥११.३५॥

एतत्, श्रुत्वा, वचनम्, केशवस्य, कृत-अञ्जलिः, वेपमानः, किरीटी ।
नमस्कृत्वा, भूयः, एव, आह, कृष्णम्, मगद्गदम् भीतभीतः, प्रणम्य ॥

संजय बोले :

श्री कृष्णचंद्र के ऐसे वचन सुन कर हाथ जोड़ कर खड़े और कांपते हुए, अर्जुन ने नमस्कार कर और अत्यंत भयभीत होकर पुन: प्रणाम करते हुए गद गद कंठ से भगवान् श्री कृष्ण से कहा : ॥११.३५॥

अर्जुन उवाच:

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ॥११.३६॥

स्थाने, हृषीकेश, तव, प्रकीर्त्या, जगत्, प्रहृष्यति, अनुरज्यते, च ।
रक्षांसि, भीतानि, दिशः, द्रवन्ति, सर्वे, नमस्यन्ति, च, सिद्ध-संघाः ॥

अर्जुन बोले :

हे इन्द्रियों को प्रवृत करने वाले भगवान! आपकी श्रेष्ठ कीर्ति से जगत अत्यंत हर्षित और आपके प्रति अनुरक्त हो रहा है, राक्षस लोग डर कर दिशाओं में

भाग रहे हैं तथा सम्पूर्ण सिद्धसमुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं, सो उचित ही है। ॥११.३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥॥११.३७॥

कस्मात्, च, ते, न, नमेरन्, महात्मन्, गरीयसे, ब्रह्मणः, अपि, आदि-कर्त्रे ।
अनन्त, देव-ईश, जगत्-निवास, त्वम्, अक्षरम्, सत्, असत्, तत्, परम्, यत् ॥

हे महात्मा! हे अनंत! हे देवताओं के स्वामी! हे जगत के निवास स्थान! आप ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ तथा उनके भी आदिकर्ता हैं। तब यह सब जगत आपको नमस्कार क्यों न करे? सत, असत से भी परे जो अति सूक्ष्म ब्रह्मतत्व है, वही आप हैं। ॥११.३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।। ॥३८॥

त्वम्, आदि-देवः, पुरुषः, पुराणः, त्वम्, अस्य, विश्वस्य, परम्, निधानम् ।
वेत्ता, असि, वेद्यम्, च, परम्, च, धाम, त्वया, ततम्, विश्वम्, अनन्त-रूप ॥

हे अनन्तरूप! आप आदिदेव हैं, मनुष्य हैं, सनातन हैं इस विश्व के चरम लयस्थान हैं, जानने वाले तथा जानने योग्य हैं तथा भगवन विष्णु के परम पद हैं। यह सारा विश्व आप ही से व्याप्त है। ॥११.३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ॥११.३९॥

वायुः, यमः, अग्निः, वरुणः, शशाङ्कः, प्रजापतिः, त्वम्, प्रपितामहः, च ।
नमः, नमः, ते, अस्तु, सहस्र-कृत्वः, पुनः च, भूयः , अपि, नमः, नमः, ते ॥

आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, हिरण्यगर्भ और हिरण्यगर्भ के भी पिता हैं। आपको सहस्त्रों बार नमस्कार है, आप को बार बार नमस्कार है ! ॥११.३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वंसर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ॥११.४०॥

नमः, पुरस्तात्, अथ, पृष्ठतः, ते, नमः, अस्तु, ते, सर्वतः, एव, सर्व ।
अनन्त-वीर्य, अमित-विक्रमः, त्वम्, सर्वम्, सम्, आप्नोषि, ततः, असि, सर्वः ॥

आपको आगे से और पीछे से नमस्कार है, हे सर्वरूप आपको सब ओर से नमस्कार है। आप अनंत बल वाले तथा असीम पराक्रम वाले हैं। आप समस्त जगत को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिए सर्वरूप हैं। ॥११.४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदंमया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ॥११.४१॥

सखा, इति, मत्वा, प्रसभम्, अत्, उक्तम् , हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे, इति ।
अजानता, महिमानम्, तव, इदम् , मया, प्रमादात्, प्रणयेन, वा, अपि ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षंतत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ॥११.४२॥

यत्, च, अवहास-अर्थन्, असत्कृतः, असि, विहार.शय्या-शासन-भोजनेषु ।
एकः, अथवा, अपि, अच्युत, तत्, समक्षम्, तत्, क्षामये, त्वाम्, अहम्, अप्रमेयम् ॥

आपकी इस महिमा को ना जान कर, आप को अपना समवयस्क समझते हुए, मैंने प्रमाद या प्रेम के कारण, अपनी उत्कृष्टा दिखाते हुए, हे कृष्ण! हे

यादव! हे सखे! इस प्रकार आपको सम्बोधन किया है तथा एकांत में अथवा अन्य लोगों के सामने हंसी के लिए, खेल में, सोते समय, बैठते समय तथा भोजन करते समय आपका तिरस्कार किया है। हे अच्युत! असीम प्रभावशाली आपसे उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। ॥११.४१-११.४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्योलोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥
॥११.४३॥

पिता, असि, लोकस्य, चर-अचरस्य, त्वाम ,अस्य, पूज्यः, च, गुरुः, गरीयान् ।
न, त्वत्, समः, अस्ति, अभ्यधिकः, कुतः, अन्यः, लोक-त्रये, अपि, अप्रतिम-प्रभाव ॥

हे अचिन्त्य प्रभाव ! आप इस चराचर जगत के पिता, पूज्य गुरु और गौरव के योग्य हैं। तीनो लोकों में आपके सामान कोई नहीं है, फिर कोई और आपसे उत्कर्ष कैसे हो सकता है। ॥११.४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायंप्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ॥४४॥

तस्मात, प्रणम्य, प्रणिधाय, कायम्, प्रसादये, त्वाम्, अहम्, ईशम्, ईड्यम् ।
पिता, इव, पुत्रस्य, सखा, इव, सख्युः, प्रियः, प्रियायाः, अर्हसि, देव, सोढुम् ॥

इसलिए आपको दंडवत प्रमाण करके मैं आप, स्तुति योग्य ईश्वर को प्रणाम करता हूँ। हे देव ! जिस प्रकार पुत्र के अपराध को पिता, सखा के अपराध को सखा और प्रिया के अपराध को प्रियतम सह लेता है। उसी प्रकार आपको मेरा अपराध सहन करना उचित है। ॥११.४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपंप्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ॥११.४५॥

अदृष्ट-पूर्वम्, हृषितः, अस्मि, दृष्ट्वा, भयेन, च, प्रव्यथितम्, मनः, मे ।
तत्, एव, मे, दर्शय, देव, रूपम्, प्रसीद, देव-ईश, जगत-निवास ॥

जिसके पहले दर्शन नहीं किये गए , ऐसे आपके इस विश्वरूप दर्शन को देख कर मुझे हर्ष हो रहा है तथा भय से मेरा मन अत्यंत व्यथित भी हो रहा है। हे देव! आप मुझे अपना वह पहला ही रूप दिखाइए। हे देवाधिदेव ! हे जगन्निवास! मुझ पर प्रसन्न होइए। ॥११.४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेनसहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ॥११.४६॥

किरीटिनम्, गदिनम्, चक्रहस्तम्, इच्छामि, त्वाम्, द्रष्टुम्, अहम्, तथा, एव ।
तेन, एव, रूपेण, चतुर्भुजेन, सहस्र-बाहो, भव, विश्व-मूर्ते॥

मैं आपको उसी प्रकार मुकुट एवं गदा धारण किये हुए तथा चक्र लिए हुए देखना चाहता हूँ। हे सहस्त्र भुजाओं वाले! हे विश्वरूप आप अपने उस चतुर्भुज रूप में स्थित हो जाइये। ॥११.४६॥

श्रीभगवानुवाच:

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदंरूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यंयन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ॥११.४७॥

मया, प्रसन्नेन, तव, अर्जुन, इदम्, रूपम्, परम्, दर्शितम्, आत्म-योगात् ।
तेजोमयम्, विश्वम्, अनन्तम्, आद्यम्, यत्, मे, त्वत्-अन्येन, न, दृष्ट-पूर्वम् ॥

श्री भगवान बोले :

हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर, अपनी योगशक्ति द्वारा, तुम्हे यह अपना श्रेष्ठ, तेजोमय, विश्वात्मक, अनंत और प्राचीन रूप दिखाया है, जिसे तुम्हारे सिवा किसी ने भी पहले नहीं देखा। ॥११.४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥॥११.४८॥

न, वेद-यज्ञ-अध्ययनैः, न, दानैः, न, च, क्रियाभिः, न, तपोभिः, उग्रैः ।
एवरूपः, शक्यः, अहम्, नृ-लोके, द्रष्टुम्, त्वत्-अन्येन, कुरु-प्रवीर ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! वेदों और यज्ञों के अध्यन्न, दान क्रिया और भीषण तपस्या, इनमे से किसी साधन द्वारा मैं मनुष्य लोक में तुम्हारे सिवा किसी अन्य मनुष्य को इस रूप में दिखाई नहीं दे सकता। ॥११.४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावोद्दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ग्मेदम्।
व्यतेपभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वंतदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ॥११.४९॥

मा, ते, व्यथा, मा, च, विमूढभावः, दृष्ट्वा, रूपम्, घोरम्, ईदृक्, मम, इदम् ।
व्यपेत-भीः, प्रीत-मनाः, पुनः, त्वम्, तत्, एव, मे, रूपम्, इदम्, प्रपश्य ॥

मेरा ऐसा तीव्र रूप देख कर तुम्हे व्यथा तथा चित्त की व्याकुलता नहीं होनी चाहिए। तुम निर्भय होकर प्रसन्न चित से पुन: मेरा वही रूप देखो। ॥११.४९॥

संजय उवाचः

**इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनंभूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ॥११.५०॥**

*इति, अर्जुनम्, वासुदेवः, तथा, उक्त्वा, स्वकम्, रूपम्, दर्शयामास, भूयः ।
अश्वासयामास, च, भीतम्, एनम्, भूत्वा, पुनः, सौम्यवपुः, महात्मा ॥*

संजय बोले :

अर्जुन से ऐसा कह कर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने उन्हें पुनः अपना वही रूप दिखाया। तथा उन महात्मा ने पुनः सौम्य रूप होकर भयभीत अर्जुन को धीरज दिया। ॥५०॥

अर्जुन उवाचः

**दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ॥११.५१॥**

*दृष्ट्वा, इदम्, मानुषम्, रूपम्, तव, सौम्यम्, जनार्दन ।
इदानीम्, अस्मि, संवृत्तः, सचेताः, प्रकृतिम्, गतः ॥*

अर्जुन बोले :

हे जनार्दन! आपका यह सौम्य रूप तथा मानव देह देख कर अब मैं भय को त्याग कर शांतचित्त और स्वस्थ हो गया हूँ। ॥११.५१॥

श्रीभगवानुवाचः

**सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ॥११.५२॥**

सु-दुर्-दर्शम्, इदम्, रूपम्, दृष्टवान्, असि, यत्, मम ।
देवाः, अपि, अस्य, रूपस्य, नित्यम्, दर्शन-काङ्क्षिणः ॥

श्री भगवान बोले :

तुमने जो मेरा रुप देखा है उसका दर्शन होना अत्यंत कठिन है। देवतागण भी सर्वदा इस रूप को देखने की अभिलाषा रखते हैं। ॥११.५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्ट्वानसि मां यथा ॥ ॥११.५३॥

न, अहम्, वेदैः, न, तपसा, न, दानेन, न, च, इज्यया ।
शक्यः, एवं विधः, द्रष्टुम्, दृष्टवान्, असि, माम्, यथा ॥

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है- इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला मैं न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ। ॥११.५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ॥११.५४॥

भक्त्या, तु, अनन्यया, शक्यः, अहम्, एवं विधः, अर्जुन ।
ज्ञातुम्, द्रष्टुम्, च, तत्त्वेन, प्रवेष्टुम्, च, परंतप ॥

हे अर्जुन! हे परंतप! इस प्रकार तो मैं अनन्यभक्ति के द्वारा ही जाना, देखा और तत्वत: प्राप्त किया जा सकता हूँ। ॥११.५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ॥११.५५॥

मत् कर्म-कृत् मत्-परमः, मत्-भक्तः, संग-वर्जितः।
निर्-वैरः, सर्व-भूतेषु यः, सः, माम् एति पाण्डव ॥

हे पाण्डुपुत्र! जो मेरे लिए ही कर्म करने वाला, मुझे ही प्राप्तव्य मानने वाला, मेरा भक्त, संगहीन और समस्त प्राणियों के प्रति वैरभाव से रहित होता है, वह मुझे प्राप्त हो जाता है। ॥११.५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायांयोगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

ॐ तत सत।

ॐ तत सत। इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का विश्वरूप दर्शनयोग नामक ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ द्वादशोध्यायः भक्तियोगः

बारहवाँ अध्याय: भक्ति योग

साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमता का निर्णय और भगवत्प्राप्ति के उपाय का विषय

अर्जुन उवाचः

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ ॥१२.१॥

एवम्, सतत-युक्ताः, ये, भक्ताः, त्वाम्, परि-उपासते ।।
ये, च, अपि, अक्षरम्, अव्यक्तम्, तेषाम्, के, योग-वित्तमाः ॥

अर्जुन बोले :

इस प्रकार जो भक्त निरन्तर योगयुक्त रहकर आपके साकार रूप की उपासना करते हैं और जो अविनाशी अव्यक्त ब्रह्म के उपासक हैं, उनमे से योगवेत्ताओं में श्रेष्ठ कौन है। ॥१२.१॥

श्रीभगवानुवाचः

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ ॥१२.२॥

मयि, आवेश्य, मनः, ये, माम्, नित्य-युक्ताः, उपासते।
श्रद्धया, परया, उपेताः, ते, मे, युक्ततमाः, मताः ।।

श्री भगवान बोले :

जो लोग सर्वदा मुझ में चित्त लगा कर निरंतर प्रयत्न करते हुए अत्यंत श्रद्धा संपन्न होकर मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं सर्वश्रेष्ठ योगवेत्ता मानता हूँ। ॥१२.२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ॥१२.३॥

ये, तु, अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, पर्युपासते ।
सर्वत्र-गम्, अचिन्त्यम्, च, कूटस्थम्, अचलम्, ध्रुवम् ॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ॥१२.४॥

संनियम्य, इन्द्रिय-ग्रामम्, सर्वत्र, समबुद्धयः ।
ते, प्राप्नुवन्ति, माम्, एव, सर्व-भूत-हिते, रताः ॥

जो लोग समस्त इन्द्रियों के समूह को रोक कर, सर्वत्र समान बुद्धि रख कर और समस्त प्राणियों के हित में तत्पर होकर, शब्द से, कथन करने के अयोग्य, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, अज्ञान और उसके कार्य के अधिष्ठानभूत, निर्विकार और नित्य निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं। ॥१२.३-१२.४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ॥१२.५॥

क्लेशः, अधिकतरः, तेषाम्, अव्यक्त-आसक्त-चेतसाम् ।
अव्यक्ता, हि, गतिः, दुःखम् , देहवद्भिः, अवाप्यते ॥

उन अव्यक्त ब्रह्म में आसक्तिचित्त उपासकों को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि शरीर सहरियों के लिए अव्यक्त यानी अक्षर ब्रह्म अथवा निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना बड़ा कष्टदायक है। ॥१२.५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्नयस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ॥१२.६॥

ये, तु, सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य, मत्-पराः ।
अनन्येन, एव, योगेन, माम्, ध्यायन्तः, उपासते ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ॥१२.७॥

तेषाम्, अहम्, समुद्धर्ता, मृत्यु-संसार-सागरात् ।
भवामि, न-चिरात्, पार्थ, मयि, आवेशित-चेतसाम् ॥

किन्तु जो सम्पूर्ण कर्मों को मुझे ही अर्पण कर, मेरे प्रति ही तत्पर रह कर, अनन्य भाव रूप योग से मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे अर्जुन, मुझमें चित्त लगाने वाले उन उपासकों का मैं इस मृत्यु रूप संसार सागर से तत्काल उद्धार कर देता हूँ। ॥१२.६-१२.७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ॥१२.८॥

मयि, एव, मनः, आधत्स्व, मयि, बुद्धिम् , निवेशय ।
निवसिष्यसि, मयि, एव, अतः ऊर्ध्वम्, न, संशयः ॥

मुझमे ही मन स्थिर कर, मुझमे ही अपनी बुद्धि को लगा कर तुम मुझमे ही निवास करोगे अर्थात मुझे ही प्राप्त करोगे, इसमें कोई संदेह नहीं है। ॥१२.८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ॥१२.९ ॥

अथ, चित्तम्, समाधातुम्, न, शक्नोषि, मयि, स्थिरम् ।
अभ्यास-योगेन, ततः, माम्, इच्छ, आप्तुम् , धनंजय ॥

हे धनंजय, यदि तुम चित्त को स्थिरता पूर्वक मुझ में ही नहीं लगा सकते, तो योग अभ्यास के द्वारा मुझे प्राप्त करने का यत्न करो। ॥१२.९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ ॥१२.१०॥

अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि, मत्-कर्म-परमः, भव ।
मत्-अर्थम्, अपि, कर्माणि, कुर्वन् , सिद्धिं, अवाप्स्यसि ॥

यदि तुम अभ्यास करने में भी असमर्थ हो तो मुझसे सम्बन्ध रखने वाले कर्मों (ज्ञान, ध्यान, कीर्तन पूजापाठ इत्यादि) में तत्पर हो जाओ। मेरे लिए कर्म करने से भी तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे। ॥१२.१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ॥१२.११॥

अथ, एतत् , अपि, अशक्तः, असि, कतुम्, मत्-योगम् ,आश्रितः ।
सर्व-कर्म-फल-त्यागम्, ततः, कुरु, यत-आत्मवान् ॥

और यदि तुम ऐसा करने में भी असमर्थ हो तो मेरे को सर्वकर्म सम्पूर्ण रूप योग का आश्रय ले इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए विवेक संपन्न हो समस्त कर्मफल का त्याग कर दो। ॥१२.११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ ॥१२.१२॥

श्रेयः, हि, ज्ञानम्, अभ्यासात्, ज्ञानात्, ध्यानम्, विशिष्यते ।
ध्यानात्, कर्म-फल-त्यागः, त्यागात्, शान्तिः, अनन्तरम् ॥

अभ्यास की अपेक्षा तो ज्ञान श्रेष्ठ है, ध्यान से ज्ञान बढ़कर है और ध्यान की अपेक्षा समस्त कर्मफलों का त्याग श्रेस्कर है। कर्मफलों का त्याग करने के पश्च्यात तुरंत ही संसार से शांति हो जाती है। ॥१२.१२॥

भगवत्-प्राप्त पुरुषों के लक्षण

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ ॥१२.१३॥

अद्वेष्टा, सर्व-भूतानाम्, मैत्रः, करुणः, एव, च ।
निर्-ममः, निर्-अहङ्कारः, सम-दुःख-सुखः, क्षमी ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ ॥१२.१४॥

सन्तुष्टः, सततम्, योगी, यत-आत्मा, दृढ-निश्चयः ।
मयि, अर्पित-मनो-बुद्धिः, यः, मत्-भक्तः, सः, में, प्रियः ॥

जो सभी प्राणियों से द्वेष ना करने वाला, उनके प्रति प्रीति रखने वाला, करुणा से युक्त, ममता शून्य, अहंकार हीन, सुख दुःख में समान भाव रखने वाला, क्षमावान, निरंतर संतुष्ट, एकाग्रचित्त, शरीर और इन्द्रियों को वश में रखने वाला, दृढ़निश्चयी तथा मुझ में मन और बुद्धि को समर्पित किये हुए है - वह भक्त मुझे अत्यंत प्रिय है। ॥१२.१३-१२.१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ ॥१२.१५॥

यस्मात्, न, उद्विजते, लोकः, लोकात्, न, उद्विजते, च, यः।
हर्ष-अमर्ष-भय-उद्वेगैः, मुक्तः, यः, सः, च, मे, प्रियः॥

जिससे लोक उदिग्न नहीं होता और जो लोक से उदिग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, भय तथा उद्वेग से रहित है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है। ॥१२.१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ ॥१२.१६॥

अनपेतः, शुचिः, दक्षः, उदासीनः, गत-व्यथः।
सर्व-आरम्भ-परित्यागी, यः, मत्-भक्तः, सः, मे, प्रियः॥

जो सब प्रकार की इच्छाओं से रहित पवित्र, चतुर, उदासीन व्यथा शून्य तथा समस्त कर्मों का त्याग करने वाला है वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है। ॥१२.१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ ॥१२.१७॥

यः, न, हृष्यति, न, द्वेष्टि, न, शोचति, न, काङ्क्षति।

शुभ-अशुभ-परित्यागी, भक्तिमान्, यः, सः, मे, प्रियः ॥

जो ना हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा करता है तथा जो शुभ और अशुभ दोनों का त्याग करने वाला और मुझ में भक्ति रखने वाला है, वह मुझे प्रिय है। ॥१२.१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ ॥१२.१८॥

समः, शत्रौ, च, मित्रे, च, तथा, मान-अपमानयोः ।
शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु, समः, सङ्ग-विवर्जितः ॥

जो शत्रु और मित्र तथा मान और अपमान में समान है, शीत और उष्ण में तथा सुख एवं दुःख में समान है तथा रोगहीन है। ॥१२.१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ ॥१२.१९॥

तुल्य-निन्दा-स्तुतिः, मौनी, संतुष्टः, येन, केनचित् ।
अनिकेतः, स्थिर-मतिः, भक्तिमान्, मे, प्रियः, नरः ॥

जो स्तुति और निंदा में समानभाव रखने वाला, मौन धारण करने वाला, किसी भी वस्तु से संतुष्ट, आसक्ति रहित और स्थिरबुद्धि है, वह भक्तिमान मनुष्य मेरा प्यारा है। ॥१२.१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ ॥१२.२०॥

ये, तु, धर्म्र्यामृतम् , इदम्, यथा, उक्तम्, पर्युपासते ।
श्रद्धानाः, मत्-परमाः, भक्ताः, ते, अतीव, में, प्रियाः ॥

मुझ में श्रद्धा रखने वाले और मुझ ही को परम गति समझने वाले जो भक्तगण सब प्रकार इस उपर्युक्त धर्मरूप अमृत का सेवन करते हैं। वे मुझे अत्यंत प्रिय हैं। ॥१२.२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायांयोगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का भक्ति योग नामक बारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ त्रयोदशोध्यायः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः

तेहरवाँ अध्याय: क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विषय

अर्जुन उवाच:

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ ॥१३.१॥

प्रकृतिम्, पुरुषम्, चैव क्षेत्रम्, क्षेत्रज्ञ, मेव च।
एत, द्वेदितु, मिच्छामि, ज्ञानम्, ज्ञेयम्, च, केशव

हे केशव ! यह प्रकृति तथा पुरुष क्या है? क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ क्या है? ज्ञान तथा गेय का क्या विषय है? मैं इन विषयों जानने का इच्छुक हूँ। कृपया इन विषयों का प्रतिपादन कीजिये। ॥१३.१॥

श्रीभगवानुवाच:

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ ॥१३.२॥

इदम्, शरीरम्, कौन्तेय, क्षेत्रम्, इति, अभिधीयते ।
एतत्, यः, वेत्ति, तम्, प्राहुः. क्षेत्रज्ञः, इति, तत्-विदः ॥

श्री भगवान बोले :

हे कुन्तीनन्दन ! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नाम से जाना जाता है और जो इसे जानता है, उस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जानने वाले मनुष्य 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। ॥१३.२॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ॥१३.३॥

क्षेत्रज्ञम्, च, अपि, माम् , विद्धि, सर्व-क्षेत्रेषु, भारत।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः, ज्ञानम्, यत्, तत् , ज्ञानम्, मृतम् , मम ॥

हे भारत नंदन ! समस्त क्षेत्रों (प्राणियों) में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) तुम मुझे ही जानो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही सम्पूर्ण ज्ञान है ऐसा मेरा मत है। ॥१३.३॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ॥१३.४॥

तत्, क्षेत्रम्, यत्, च, यादृक् च, यत्-विकारि, यतः, च, यत् ।
सः, च, यः, यत्-प्रभावः, च, तत्, समासेन, मे, शृणु ॥

यह क्षेत्र क्या है? किसके जैसा है? इसमें क्या क्या विकार उत्पन्न होते हैं? किसके संयोग से हुआ है? तथा वह जैसे स्वरुप और जैसे प्रभाववाला है वह संक्षेप में मुझसे सुनो। ॥१३.४॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ॥१३.५॥

ऋषिभिः, बहुधा, गीतम्, छन्दोभिः, विविधैः, पृथक् ।
ब्रह्मसूत्र-पदैः, च, एव, हेतुमद्भिः, विनिश्चितैः ॥

ऋषियों ने इसका अनेक प्रकार से निरूपण किया है। ऋग, साम आदि वेदों के अनेक मन्त्रों ने, ब्राह्मणों ने भी इसका विवेकपूर्ण वर्णन किया है , तथा ब्रह्म को तटस्थरूप से सूचित करने वाले और उसका साक्षात् प्रतिपादन करने वाले युक्तियुक्त एवं निश्चयात्मक उपनिषद वाक्यों ने भी इसका निरूपण किया है। ॥१३. ५॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ॥१३.६॥

महाभूतानि, अहङ्कारः, बुद्धिः, अव्यक्तम्, एव, च ।
इन्द्रियाणि, दश, एकम् , च, पञ्च, च, इन्द्रिय-गोचराः ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ॥१३.७॥

इच्छा, द्वेषः, सुखम् , दुःखम्, संघातः, चेतना, धृतिः ।
एतत् , क्षत्रम्, समासेन, स-विकारम्, उदाहृतम् ॥

पांच महाभूत[53], अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति अथवा त्रिगुणी माया) , ग्यारह इन्द्रियां[54], पांच इन्द्रियों के विषय[55], इच्छा, द्वेष, सुख दुःख, संघात यानी पांच तत्वों से बना यह शरीर, चेतना और धृति - यह संक्षेप में जन्मादि विकारों वाले क्षेत्र का वर्णन किया गया। ॥१३.६-१३.७॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ॥१३.८॥

अमानित्वम्, अदम्भिवम् , अहिंसा, क्षान्तिः , आर्जवम् ।
आचार्य-उपासनम्, शौचम्, स्थैर्यम्, आत्म-विनिग्रहः ॥

निरभिमानता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्य की उपासना, शौच, स्थिरता और आत्मनिग्रह[56]। ॥१३.८॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ॥१३.९॥

इन्द्रिय अर्थेषु, वैराग्यम्, अहंङ्कारः, एव, च ।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष-अनुदर्शनम् ॥

---

[53] पृथ्वी, अग्नि, तेज, जल एवं आकाश
[54] कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर, वाणी और मन
[55] रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द
[56] अपने विषय में स्वयं निश्चय करना

इन्द्रियों के विषय में वैराग्य, अहंकार का सर्वथा अभाव तथा जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के दुःख स्वरुप दोषों को देखना। ॥१३.९॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ॥१३.१०॥

असक्तिः, अनभिष्वङ्गः, पुत्र-दार-गृह-आदिषु ।
नित्यम्, च, सम-चित्तत्वम्, इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु ॥

पुत्र, स्त्री और गृह आदि में आसक्ति न होना, उनमे संकल्प का अभाव होना तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होने पर सर्वदा समचित्त रहना। ॥१३.१०॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ॥१३.११॥

मयि, च, अनन्य-योगेन, भक्तिः, अव्यभिचारिणी ।
विविक्त-देश-सेवित्वम्, अरतिः, जन-संसदि ॥

मुझ में अनन्य भाव से अविचल भक्ति होने तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना। ॥१३.११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ॥१३.१२॥

अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम्, तत्त्व-ज्ञान-अर्थ-दर्शनम् ।
एतत्, ज्ञानम्, इति, प्रोक्तम् , अज्ञानम्, यत्, अतः, अन्यथा ॥

आध्यात्म ज्ञान में निष्ठा होना और तत्वज्ञान के प्रयोजन का विचार करना - यह सभी ज्ञान कहा जाता है, इससे जो भिन्न है वह अज्ञान है। ॥१३.१२॥

ज्ञेयं यत्तत्वप्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ ॥१३.१३॥

ज्ञेयम्, यत्, तत्, प्रवक्ष्यामि, यत्, ज्ञात्वा, अमृतम्, अश्नुते ।
अनादिमत्, परम्, ब्रह्म, न, सत्, तत्, न, असत् , उच्यते ॥

जो ज्ञेय (जानने योग्य) है, वह मैं बताता हूँ, जिसे जान कर जीव अमृत्व प्राप्त कर लेता है अर्थात सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाकर मनुष्य अक्षय आनंद यानि मोक्ष प्राप्त करता है। ब्रह्म अनादि और निर्विषय है। वह न सत है, न असत न ही किसी शब्द से कहा जाता है। ॥१३.१३॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ॥१३.१४॥

सर्वतः, पाणि-पादम् , तत्, सर्वतः, अति-शिरः-मुखम् ।
सर्वतः, श्रुतिमत्, लोके, सर्वम्, आवृत्य, तिष्ठति ॥

वह सर्वत्र, हाथ पैरों को प्रेरित करने वाला, असंख्य नेत्र, मस्तक और मुखों को प्रवृत करने वाला, ब्रह्म सम्पूर्ण जड़वर्ग को व्याप्त करके स्थित है। ॥१३.१४॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ ॥१३.१५॥

सर्व-इन्द्रिय-गुण-अभासम्, सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम् ।
असक्तम्, सर्व-भृत्, च, एव, निर्गुणम् , गुण-भोक्त, च ॥

वह समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी समस्त इन्द्रिय व्यापारों के विषयरूप से बोधित होता है। तथा सर्व सम्बन्ध शून्य, सबका मरण करने वाला, निर्गुण और गुणों का भोक्ता है। ॥१३.१५॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ ॥१३.१६॥

बहि:, अन्त:, च, भूतानाम्, अचरम्, चरम्, एव, च ।
सूक्ष्मत्वात्, तत्, अविज्ञेयम्, दूरस्थम्, च, अन्तिके, च, तत् ॥

वह समान रूप से सभी प्राणियों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर भी वही है। और वह सूक्ष्म होने से जाना नहीं जा सकता। वह दूरवर्ती भी है और समीप भी है। ॥१३.१६॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ ॥१३.१७॥

अविभक्तम्, च, भूतेषु, विभक्तम्, इव, च, स्थितम् ।
भूत-भर्तृ, च, तत्, ज्ञेयम्, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु, च ॥

वह समस्त प्राणियों में विभक्त न होने पर भी विभक्त हुआ सा स्थित है अर्थात सभी प्राणियों में वह एक ही है परन्तु विभिन्न शरीरों में भिन्न रूप से प्रकट

होता है। वह ही विष्णु रूप होकर समस्त प्राणियों को पालने वाला, रूद्ररूप होकर नाश करने वाला और उत्पत्ति काल में ब्रह्म रूप होकर उत्पन्न करने वाला है। ॥१३.१७॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ ॥१३.१८॥

ज्योतिषाम्, अपि, तत्, ज्योतिः, तमसः, परम्, उच्यते ।
ज्ञानम्, ज्ञेयम, ज्ञान-गम्यम्, हृदि, सर्वस्य, धिष्ठितम् ॥

वह परब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति एवं माया से अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा, वह ज्ञानस्वरूप, जानने के योग्य एवं तत्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित है। ॥१३.१८॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ ॥१३.१९॥

इति, क्षेत्रम्, तथा, ज्ञानम्, ज्ञेयम्, च, उक्तम् , समासतः ।
मद्-भक्तः, एतत्, विज्ञाय, मद्-भावाय, उपपद्यते ॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्व से जानकर मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। ॥१३.१९॥

ज्ञानसहित प्रकृति-मनुष्य का विषय

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ ॥१३.२०॥

प्रकृतिम्, पुरुषम्, च, एव, विद्धि, अनादी, उभौ, अपि ।
विकारान्, च, गुणान, च, एव, विद्धि, प्रकृति-सम्भवान् ॥

प्रकृति (माया) और मनुष्य (जीवात्मा) इन दोनों ही को तुम अनादि तथा विकारों (देह, इन्द्रिय आदि सोलह विकारों) और गुणों (सुख दुःख और मोह आदि गुणों) को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जानो। ॥१३.२०॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ ॥१३.२१॥

कार्य-कारण-कतृवे, हेतुः, प्रकृतिः, उच्यते ।
पुरुषः, सुख-दुःखानाम्, भोक्तृत्वे, हेतुः, उच्यते ॥

कार्य (शरीर आदि) और कारणों (सुख-दुःख आदि गुण) अथवा करण (दस इन्द्रियां) के कर्तव्य में प्रकृति हेतु कही जाती है तथा सुख - दुखों के भोक्तृत्व में मनुष्य हेतु कहा जाता है। ॥१३.२१॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ ॥१३.२२॥

पुरुषः, प्रकृति-स्थः, हि, भुङ्क्ते, प्रकृति-जान्, गुणान् ।
कारणम्, गुण-सङ्गः, अस्य, सत्-असत्-योनि, जन्मसु ॥

प्रकृति में स्थित ही मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों (सत्व, रज तथा तम) को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। ॥१३.२२॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ ॥१३.२३॥

उपद्रष्टा, अनुमन्ता, च, भर्ता, भोक्ता, महा-ईश्वरः ।
परमात्मा, इति, च, अपि, उक्तः, देहे, अस्मिन्, पुरुषः, परः ॥

इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा- ऐसा कहा गया है। ॥१३.२३॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ ॥१३.२४॥

यः, एवम्, वेत्ति, पुरुषम्, प्रकृतिम् , च, गुणैः, सह ।
सर्वथा, वर्तमानः, अपि, न, सः, भूयः, अभिजायते ॥

जो मनुष्य इस प्रकार गुणों के सहित मनुष्य और प्रकृति को जानता है वह सब प्रकार उसमे सम्मिलित होते हुए भी पुनः जन्म नहीं लेता। ॥१३.२४॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ ॥१३.२५॥

ध्यानेन, आत्मनि, पश्यन्ति, केचित्, आत्मानम्, आत्मना ।
अन्ये, सांख्येन, योगेन, कर्म-योगेन, च, अपरे ।।

उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान द्वारा हृदय में आत्मा का साक्षात्कार करते हैं, दूसरे कितने ही सांख्यरूप योग से और कर्मयोग द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं। ॥१३.२५॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ ॥१३.२६॥

अन्ये, तु, एवम्, अजानन्तः, श्रुत्वा, अन्येभ्यः, उपासते ।
ते, अपि, च, अतितरन्ति, एव, मृत्यु, श्रुति-परायणाः ॥

दूसरे जो ऐसा नहीं जानते, दूसरों से सुन कर ही उपासना करते हैं। वे श्रवण परायण मनुष्य भी मृत्युरूप संसार को पार कर ही जाते हैं। ॥१३.२६॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ ॥१३.२७॥

यावत्, संजायते, किंचित्, सत्त्वम्, स्थावर-जङ्गमम् ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्, तत्, विद्धि, भरतर्षभ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! समस्त संसार में जितने भी चर अचर, प्राणी या पदार्थ उत्पन्न होते हैं उन्हें तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुआ समझो। ॥१३.२७॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ ॥१३.२८॥

समम्, सर्वेषु, भूतेषु, तिष्ठन्तम्, परमेश्वरम् ।
विनश्यत्सु, अविनश्यन्तम्, यः, पश्यति, सः, पश्यति ॥

जन्मादि विकारों से युक्त तथा नष्ट होने वाले समस्त प्राणियों में जो नष्ट न होने वाला और समानरूप से स्थित सबके नियामक परमात्मा को देखता है। वही वास्तव में देखता है अर्थात वही सच्चा ज्ञानी है। ॥१३.२८॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ ॥१३.२९॥

समम्, पश्यन्, हि, सर्वत्र, सम-अवस्थितम्, ईश्वरम् ।
न, हिनस्ति, आत्मना, आत्मानम्, ततः, याति, पराम्, गतिम् ॥

एकरूप, विकार हीन और सबके नियामक आत्मा को सब जगह देखने वाला मनुष्य (अपनी आत्मा के यथार्थ ज्ञान के कारण) स्वयं ही अपना नाश नही करता। अत: वह परमगति को प्राप्त होता है। ॥१३.२९॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ॥१३.३०॥

प्रकृत्या, एव, च, कर्माणि, क्रियमाणानि, सर्वशः ।
यः, पश्यति, तथा, आत्मानम्, अकर्तारम्, सः, पश्यति ॥

जो मनुष्य यह समझता है की समस्त कर्म प्रकृति द्वारा ही किये जाते है तथा आत्मा को अकर्ता मानता है वही वास्तव में यथार्थ देखता है अर्थात वही आत्मा को भली प्रकार से पहचानता है। ॥१३.३०॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ॥१३.३१॥

यदा, भूत-पृथक्-भावम् , एक-स्थम्, अनुपश्यति ।
ततः, एव, च, विस्तारम् , ब्रह्म, संपद्यते, तदा ॥

जिस समय चल-अचल प्राणियों की पृथकता को एक आत्मा में ही स्थित देखता है और उसी से उन सबके विस्तार को देखता है उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है। ॥१३.३१॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ॥१३.३२॥

अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, परमात्मा, अयम्, अव्ययः।
शरीरस्थः, अपि, कौन्तेय, न, करोति, न, लिप्यते ॥

यह परमात्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण अविनाशी है। हे कुन्तीपुत्र! शरीर में रहने पर भी यह न तो कर्म करता है और न ही कर्मों के फल में लिप्त होता है। ॥१३.३२॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ॥१३.३३॥

यथा, सर्वगतम्, सौक्ष्म्यत्, आकाशम्, न, उपलिप्यते ।
सर्वत्र, अवस्थितः, देहे, तथा, आत्मा, न, उपलिप्यते ॥

जिस प्रकार सर्वगत होने पर भी सूक्ष्मता के कारण आकश किसी पदार्थ में लिप्त नहीं होता उसी प्रकार शरीर में सर्वत्र रहने पर भी आत्मा उसके कर्म से लिप्त नहीं होती। ॥१३.३३॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ॥१३.३४॥

यथा, प्रकाशयति, एकः, कृत्स्नम्, लोकम्, इमम्, रविः।
क्षेत्रम् , क्षेत्री, तथा, कृत्स्नम्, प्रकाशयति, भारत ॥

जिस प्रकार एक ही सूर्य इस समस्त लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार हे भारत ! क्षेत्रज्ञ मनुष्य सारे क्षेत्र को प्रकाशित करता है। ॥१३.३४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ॥१३.३५॥

क्षत्र-क्षेत्रज्ञयोः, एवम् , अन्तरम्, ज्ञान-चक्षुषा ।
भूत-प्रकृति-मोक्षम्, च, ये, विदुः, यान्ति, ते, परम् ॥

जो लोग इस प्रकार इस ज्ञानक्षेत्र द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अंतर और सम्पूर्ण कार्यवर्ग की कारणभूता माया की निर्वृत्ति के विषय में जानते हैं वे परम पद परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। ॥१३.३५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायांयोगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का
क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभागयोग विभूति योग नामक तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ चतुर्दशोध्यायः गुणत्रयविभागयोगः

चौदहवाँ अध्याय: गुणत्रय विभाग योग

ज्ञान की महिमा और प्रकृति-मनुष्य से जगत् की उत्पत्ति

श्रीभगवानुवाच:

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानं मानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ ॥१४.१॥

परम्, भूयः, प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानाम्, ज्ञानम् , उत्तमम् ।
यत्, ज्ञात्वा, मुनयः, सर्वे, पराम्, सिद्धिम्, इतः, गताः॥

श्री भगवान बोले :

अब मैं पुनः ज्ञान के साधनों में जो उत्तम ज्ञान साधन है उसका वर्णन करूँगा, जिसे जानकार समस्त मुनिजनों ने इस देह्बंधन से मोक्ष नाम की उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली थी। ॥१४.१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ ॥१४.२॥

इदम् , ज्ञानम्, उपाश्रित्य, मम, साधर्म्यम् , आगताः ।

सर्गे, अपि, न, उपजायन्ते, प्रलये, न, व्यथन्ति, च ॥

इस ज्ञान का आश्रय ले कर मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए मनुष्य, सर्ग के होने पर भी उत्पन्न नहीं होते तथा प्रलयकाल में भी लीन नहीं होते। ॥१४.२॥

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ॥१४.३॥

मम, योनिः, महत्, ब्रह्म, तस्मिन्, गर्भम्, दधामि, अहम् ।
संभवः, सर्व-भूतानाम्, ततः, भवति, भारत ॥

हे भरतनन्दन ! मेरी योनि महत ब्रह्म यानि प्रकृति अथवा माया है। उसमे मैं गर्भ को अथवा चेतन रूप बीज को स्थापित करता हूँ। उसी जड़-चेतन के संयोग से सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं। ॥१४.३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ॥१४.४॥

सर्व-योनिषु, कौन्तेय, मूर्तयः, सम्भवन्ति, याः ।
तासाम्, ब्रह्म, महत्, योनिः, अहम्, बीज-प्रदः, पिता ॥

हे कुन्तीनन्दन ! समस्त जीव योनियों में जितने भी आकार विशेष हो सकते हैं उनका महदब्रह्म मातृरूपा है तथा मैं ही बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ। ॥१४.४॥

सत्, रज, तम- तीनों गुणों का विषय

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ॥१४.५॥

सत्त्वम्, रजः, तमः, इति, गुणाः, प्रकृति-सम्भवाः ।
निबध्नन्ति, महाबाहो, देहे, देहिनम् , अव्ययम् ॥

हे महाबाहो ! सत्व, राज और तम - ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होने वाले हैं। ये ही निर्विकार देहि (निराकार आत्मा) को देह में बाँध देते हैं। ॥१४.५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ॥१४.६॥

तत्र, सत्वम्, निर्मलत्वात्, प्रकाशकम्, अनामयम् ।
सुख-सङ्गेन, बध्नाति, ज्ञान-सङ्गेन, च, अनघ ॥

हे पापरहित अर्जुन! इन तीनो गुणों में से सत्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और सुख की अभिव्यक्ति करने वाला होता है। यह सत्वगुण जीवात्मा को सुख और ज्ञान के लालच में बांधता है। ॥१४.६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ॥७॥

रजः, राग-आत्मकम् , विद्धि, तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम् ।
तत्, निबध्नाति, कौन्तेय, कर्म-सङ्गेन, देहिनम् ॥

हे कुन्तीपुत्र! तृष्णा और संग की उत्पत्ति के मूल स्थान रजोगुण को तुम रागस्वरूप समझो, यह जीवात्मा को कर्मों की आसक्ति से बाँध देता है। ॥१४.७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ॥१४.८॥

तमः, तु, अज्ञान-जम्, विद्धि, मोहनम्, सर्व-देहिनाम् ।
प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः, तत्, निबध्नाति, भारत ॥

हे भारत! तुम तमोगुण को ज्ञानजनित और समस्त देहधारियों को मोहित करने वाला जानो। यह प्राणियों को प्रमाद आलस्य और निद्रा में बाँध देता है। ॥१४.८॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ॥१४.९॥

सत्त्वम्, सुखे, संजयति, रजः, कर्मणि, भारत ।
ज्ञानम्, आवृत्य, तु, तमः, प्रमादे, संजयति, उत ॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुख में लगाता है और रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को ढककर प्रमाद में भी लगाता है। ॥१४.९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ ॥१४.१०॥

रज, तमः, च, अभिभूय, सत्त्वम्, भवति, भारत ।
रजः, सत्वम्, तमः, च, एव, तमः, सत्त्वम्, रजः, तथा ॥

हे भारत! जब रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्वगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है। इसी प्रकार जब सत्व और तम को दबाकर रजोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करता है और जब सत्व और

रज को दबाकर तमोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है। ॥१४.१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ॥१४.११॥

सर्व-द्वारेषु, देहे, अस्मिन् , प्रकाशः, उपजायते ।
ज्ञानम्, यदा, तदा, विद्यात्, विवृद्धम्, सत्त्वम्, इति, उत ॥

जिस समय इस देह में समस्त इन्द्रियों में प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न हो तथा सुख आदि के चिन्ह भी दिखाई दें तो समझ लेना चाहिए सत्व की वृद्धि हुई है। ॥१४.११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ ॥१४.१२॥

लोभः, प्रवृत्तिः, आरम्भः, कर्मणाम् , अशमः, स्पृहा ।
रजसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, भरत-ऋषभ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! रजोगुण की वृद्धि होने पर लोभ प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशांति और कामना - यह चिन्ह प्रकट हो जाते हैं। ॥१४.१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ ॥१४.१३॥

अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, च, प्रमादः, मोहः, एव, च ।
तमसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, कुरुनन्दन ॥

हे कुरुनन्दन ! तमोगुण की वृद्धि होने पर अँधेरा, अप्रवृति, प्रमाद और मोह उत्पन्न हो जाते हैं। ॥१४.१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥॥१४.१४॥

यदा, सत्त्वे, प्रवृद्धे, तु, प्रलयम्, याति, देहभृत् ।
तदा, उत्तम-विदाम्, लोकान्, अमलान्, प्रतिपद्यते ॥

जिस समय देहधारी जीव सत्वगुण की वृध्दि होने पर मरण को प्राप्त होता है वह हिरण्यगर्भादि की उपासना करनेवालों के निर्मल लोकों में जाता है। ॥१४.१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥॥१४.१५॥

रजसि, प्रलयम्, गत्वा, कर्म-सङ्गि पु, जायते ।
तथा, प्रलीनः, तमसि, मूढ-योनिषु, जायते ॥

रजोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु को प्राप्त होने पर वह कर्मसक्त जीवों में उत्पन्न होता है और तमोगुण की अधिकता के समय मरने पर मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है। ॥१४.१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ ॥१४.१६॥

कर्मणः, सुकृतस्य, आहुः, सात्त्विकम् , निर्मलम् , फलम् ।
रजसः, तु, फलम्, दुःखम् , अज्ञानम्, तमसः, फलम् ॥

महाऋषियों ने सात्विक कर्म का सात्विक और निर्मल फल बताया है तथा राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान बताया है। ॥१४.१६ ॥

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ ॥१७॥

सत्त्वात्, संजायते, ज्ञानम्, रजसः, लोभः, एव, च ।
प्रमाद-मोहौ, तमसः, भवतः, अज्ञानम्, एव, च ॥

सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ होता है और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति होती है। ॥१४.१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ ॥१४.१८॥

ऊर्ध्वम्, गच्छन्ति, सत्त्व-स्थाः, मध्ये, तिष्ठन्ति, राजसाः ।
जघन्य-गुण-वृत्ति-स्थाः, अधः, गच्छन्ति, तामसाः ॥

सत्वगुण में स्थित लोग ऊँचे लोकों में जाते हैं, रजोगुण मध्य के लोकों में रहते हैं और तामस आचरण में स्थित तमोगुणी मनुष्य नीचे लोकों में जाते हैं। ॥१४.१८॥

भगवत्प्राप्ति का उपाय और गुणातीत मनुष्य के लक्षण

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ ॥१४.१९॥

न, अन्यम्, गुणेभ्यः, कर्तारम्, यदा, द्रष्टा, अनुपश्यति ।
गुणेभ्यः, च, परम्, वेत्ति, मद्-भविम्, सः, अधिगच्छति ॥

जिस समय विचारकुशल मनुष्य गुणों के सिवा किसी और को कर्ता नहीं देखता तथा गुणों से परे जो क्षेत्रज्ञ है उसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरुप को प्राप्त हो जाता है। ॥१४.१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ ॥१४.२०॥

गुणान्, एतान्, अतीत्यं, त्रीन्, देही, देह-समुद्भवान् ।
जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः, विमुक्तः, अमृतम् , अश्नुते ॥

देहधारी जीव देह की उत्पत्ति के बीजभूत इन तीनो गुणों के पार करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप दुःख से मुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है। ॥१४.२०॥

अर्जुन उवाचः

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ ॥१४.२१॥

कैः, लिङ्गः, त्रीन्, गुणान् , एतान्, अतीतः, भवति, प्रभो ।
किम्, आचारः, कथम्, च, एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतिवर्तते ॥

अर्जुन बोले :

प्रभो ! इन तीनों गुणों से पार हुआ मनुष्य किन लक्षणों से युक्त होता है, उसका क्या आचरण होता है और वह किस प्रकार इन तीन गुणों का अतिक्रमण करता है। ॥१४.२१॥

श्रीभगवानुवाच:

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ ॥१४.२२॥

प्रकाशम्, च, प्रवृत्तिम्, च, मोहम्, एव, च, पाण्डव ।
न, द्वेष्टि, सम्प्रवृत्तानि, न, निवृत्तानि, कांक्षति ॥

श्री भगवान बोले :

हे अर्जुन! जो मनुष्य प्रवृत हुए प्रकाश, प्रवृति और मोह में दुःख बुद्धि करके उनसे द्वेष नहीं करता और दूर हुए प्रकाश, प्रवृति एवं मोह में सुख बुद्धि करके उनकी इच्छा नहीं करता। ॥१४.२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ ॥१४.२३॥

उदासीनवत्, आसीनः, गुणैः, यः, न, विचाल्यते ।
गुणाः, वर्तन्ते, इति, एव, यः, अवतिष्ठति, न, इङ्गते ॥

जो मनुष्य उदासीन के समान अपने स्वरुप में स्थित रहकर गुणों के द्वारा चलायमान नहीं होता तथा 'गुण ही गुण में विद्यमान हैं। ऐसा निश्चयकर अपने

स्वरुप में स्थित रहता है - जो किसी प्रकार के चेष्टा नहीं करता वह गुणातीत (गुणों से अतीत) कहलाता है। ॥१४.२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥॥१४.२४॥

सम-दुःख-सुखः, स्व-स्थः, सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः ।
तुल्य-प्रिय-अप्रियः, धीरः, तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः ॥

जो मनुष्य सुख दुःख में समान, अपने स्वरुप में स्थित, मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान दृष्टिवाला, प्रिय और अप्रिय के प्रति समान, धैर्यवान तथा अपनी स्तुति और निंदा में समान है, वह गुणातीत कहलाता है। ॥१४.२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः सा उच्यते ॥ ॥१४.२५॥

मान-अपमानयोः, तुल्यः, तुल्यः, मित्र-अरि-पक्षयोः ।
सर्व-आरम्भ-परित्यागी, गुण-अतीतः, सः, उच्यते ॥

जो मन और अपमान में समान, मित्र और शत्रु दोनों ही पक्षों में समान और समस्त आरम्भों का त्याग करनेवाला होता है अर्थात कर्तापन के अभिमान को त्याग कर केवल परोपकार के लिए जो कर्म करता है, वह गुणातीत कहलाता है। ॥१४.२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्येतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ॥१४.२६॥

माम्, च, यः, अव्यभिचारेण, भक्तियोगेन, सेवते ।
सः, गुणान्, समतीत्य, एतान्, ब्रह्म-भूयाय, कल्पते ॥

जो मनुष्य अव्यभिचार भक्तियोग के द्वारा मेरा सेवन करता है वह इन गुणों का सम्यक प्रकार से उल्लंघन कर मोक्ष पाने में समर्थ हो जाता है।[57] ॥१४.२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ ॥१४.२७॥

ब्रह्मणः, हि, प्रतिष्ठा, अहम् , अमृतस्य, अव्ययस्य, च ।
शाश्वतस्य, च, धर्मस्य, सुखस्य, ऐकान्तिकस्य, च ॥

क्योंकि निर्विकल्परूप मैं अविनाशी, अधिकारी, नित्य, धर्म-स्वरुप, सुखस्वरूप और अव्यभिचारी ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। ॥१४.२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायांयोगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नामचतुर्दशोऽध्यायः॥१४॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का गुणत्रय विभागयोग नामक चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ।

---

[57] केवल एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर को ही अपना स्वामी मानता हुआ, स्वार्थ और अभिमान को त्याग कर श्रद्धा और भाव सहित परम प्रेम से निरन्तर चिन्तन करने को 'अव्यभिचारी भक्तियोग' कहते हैं

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ पञ्चदशोध्यायः पुरुषोत्तमयोग

पन्द्रहवाँ अध्यायः पुरुषोत्तम योग

संसार वृक्ष का कथन और भगवत्प्राप्ति का उपाय

श्रीभगवानुवाचः

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१५.१॥

ऊर्ध्व-मुलम्, अधः-शाखम्, अश्वत्थम्, प्राहुः, अव्ययम् ।
छन्दांसि, यस्य, पर्णानि, यः, तम्, वेद, सः, वेदवित् ॥

श्री भगवान बोले :

जिसका ऊपर की और मूल है और नीचे की और शाखायें हैं तथा वेद ही जसके पत्ते हैं, ऐसे संसाररूप अश्वथ वृक्ष को श्रुति और स्मृति अविनाशी बतलाती है। इस संसार रुपी वृक्ष को जो मूल सहित जानता है, वह यथार्थ में वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। ॥१५.१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ ॥१५.२॥

अधः, च, ऊर्ध्वम्, प्रसृताः, तस्य, शाखाः, गुण-प्रवृद्धाः विषय-प्रवालाः।
अधः, च, मूलानि, अनुसन्त-तानि, कर्म-अनुबन्धीनि, मनुष्यलोके ॥

उस संसार वृक्ष की शाखाएं नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं, जो सत्व-रज आदि गुणों के जल से परिपोषित होती है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श यह पांच विषय जिसकी कोपलें हैं और नीचे मनुष्यलोक में राग द्वेष आदि वासनारूपी जड़ें फैली हुई हैं। जिन वासनाओं के कारण मनुष्य कर्मों के बंधन से बंधे रहते हैं और बारम्बार ऊँची नीची योनियों में जन्म लेते रहते हैं। ॥१५.२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ॥१५.३॥

न, रूपम्, अस्य, इह, तथा, उपलभ्यते, न, अन्तः, न, च, श्रादिः, न, च,
सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थम्, एनम्, सुविरूढमूलम्, असङ्ग-शस्त्रेण, दृढेन, छित्त्वा ॥

इस संसार का ऐसा रूप दिखाई नहीं देता तथा न इसके अंत, आदि और मध्य का ही पता लगता है। अर्थात यह भी नहीं जाना जा सकता की उसका आरम्भ कब किस प्रकार और किसके द्वारा हुआ ? इसका अंत कब, किस प्रकार और किसके द्वारा होगा और यह किसके आधार पर कैसे स्थित है? यह देखते-देखते स्वप्न के समान नष्ट हो जाता है। जिसकी जड़ें अत्यंत जम गयी है ऐसे इस अश्वथ वृक्ष को वैराग्य रुपी तेज तलवार से काट कर। ॥१५.३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ॥१५.४॥

ततः, पदम्, तत्, परिमार्गितव्यम्, यस्मिन्, गताः, न, निवर्तन्ति, भूयः ।
तम्, एव, च, आद्यम्, मनुष्यम्, प्रपद्ये, यतः, प्रवृत्तिः, प्रसृता, पुराणी ॥

फिर उस पद की खोज करनी चाहिए, जहाँ गया हुआ मनुष्य फिर लौट कर नहीं आता। मैं उसी आदि मनुष्य को प्रणाम करता हूँ जिससे इस संसार वृक्ष की अनादि प्रवृति हुई है। ॥१५.४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ॥१५.५॥

निर्मान-मोहाः, जित-सङ्ग-दोषाः, अध्यात्म-नित्याः, विनिवृत्त-कामाः ।
द्वन्द्वै, र्विमुक्ताः, सुख-दुःख-संज्ञैः, गच्छन्ति, अमूढाः, पदम् , अव्ययम्, तत् ॥

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं- वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं। ॥१५.५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ॥१५.६॥

न, तत्, भासयते, सूर्यः, न, शशाङ्कः, न, पावकः ।
यत्, गत्वा, न, निवर्तन्ते, तत्, धाम, परमम्, मम ॥

जहाँ पहुंचकर योगीजन फिर इस नश्वर संसार में नहीं लौटते उस पद को न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा प्रकाशित करता है और न अग्नि। वही मेरा सर्वश्रेष्ठ स्वयं प्रकाश पद है। ॥१५.६॥

जीवात्मा का विषय

श्रीभगवानुवाच:

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ॥१५.७॥

मम, एव, अंशः, जीव-लोके, जीव-भूतः, सनातनः ।
मनः, षष्ठानि, इन्द्रियाणि, प्रकृति-स्थानि, कर्षति ॥

श्रीभगवान बोले :

इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इस प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है। ॥१५.७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ॥१५.८॥

शरीरम्, यत्, अवाप्नोति, यत्, च, अपि, उत्क्रामति, ईश्वरः ।
गृहीत्वा, एतानि, संयाति, वायुः, गन्धान , इव, आशयात् ॥

जिस समय देह और इन्द्रियों का स्वामी जीव एक शरीर को छोड़ कर नवीन देह धारण करता है उस समय वह मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने साथ इस प्रकार खींच कर ले जाता है जैसे वायु गंध को ले जाती है । ॥१५.८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ॥१५.९॥

श्रोत्रम्, चक्षुः, स्पर्शनम्, च, रसनम्, घ्राणम्, एव, च ।
अधिष्ठाय, मनः, च, अयम्, विषयान्, उपसेवते ॥

यह जीव श्रोत, नेत्र, स्पर्श, रसना, घ्राण, समस्त कर्म इन्द्रियों और प्राण एवं मन इनका ही आश्रय ले कर विषयों का सेवन करता है। ॥१५.९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ ॥१५.१०॥

उत्क्रामन्तम्, स्थितम्, वा, अपि, भुञ्जानम्, वा, गुण-अन्वितम्।
विमूढाः, न, अनुपश्यन्ति, पश्यन्ति, ज्ञान-चक्षुषः ॥

देहान्तर में जाते हुए अथवा पहले ही शरीर में रहते हुए तथा भोग करते हुए इस गुणाच्छदित जीव मूढ़ लोग नहीं देखते, ज्ञान नेत्र वाले ही देखते हैं। ॥१५.१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ॥१५.११॥

यतन्तः, योगिनः, च, एनम् , पश्यन्ति, आत्मनि,अवस्थितम् ।
यतन्तः, अपि, अकृत-आत्मानः, न, एनम् ,पश्यन्ति, अचेतसः ॥

ध्यानादि साधनों द्वारा यत्न करने वाले योगीजन इसे अन्तःकरण में स्थित देखते हैं, किन्तु जो अशुद्ध चित्तवाले अविवेकी मनुष्य हैं वे यत्न करने पर भी इसे नहीं देख पाते। ॥१५.११॥

प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरूप का विषय

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ ॥१५.१२॥

यत्, आदित्य-गतम् , तेजः, जगत्, भासयते, अखिलम् ।
यत्, चन्द्रमसि, यत्, च, अग्नौ, तत्, तेजः, विद्धि, मामकम् ॥

जो सूर्य में रहने वाला तेज सारे संसार को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में भी है उसे तुम मेरा ही समझो। ॥१५.१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ ॥१५.१३॥

गाम्, अविश्य, च, भूतानि, धारयामि, अहम्, ओजसा ।
पुष्णामि, च, ओषधीः, सर्वाः, सोमः, भृत्वा, रस-आत्मकः ॥

मैं पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से समस्त वस्तुओं को धारण करता हूँ तथा रसमय चन्द्रमा होकर समस्त औषधियों का पोषण करता हूँ। ॥१५.१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ ॥१५.१४॥

अहम् , वैश्वानरः, भूत्वा, प्राणिनाम्, देहम्, आश्रितः ।
प्राण-अपान-समायुक्तः, पचामि, अन्नम्, चतुर्-विधम् ॥

मैं ही वैश्वानर अग्नि हो प्राणियों के शरीर में स्थित होकर प्राण और अपान से प्रदीप्त होकर चार प्रकार से अन्न को पचाता हूँ। ॥१५.१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ ॥१५.१६॥

सर्वस्य, च, अहम्, हृदि, संनिविष्टः, मत्तः, स्मृतिः, ज्ञानम्, अपोहनम्, च।
वेदैः, च, सर्वैः, अहम्, एव, वेद्यः, वेदान्तकृत्, वेद-वित्, एव, च, अहम् ॥

मैं सभी के ह्रदय में स्थित हूँ, समस्त प्राणियों के स्मृति, ज्ञान और इन दोनों का नाश यह भी मुझ से ही होते हैं। मैं ही समस्त वेदों से जानने योग्य हूँ तथा मैं ही वेदान्तार्थ शास्त्र का प्रवर्तक और वेद के तात्पर्य को जानने वाला भी हूँ। ॥१५.१६॥

क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम का विषय

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ ॥१५.१६॥

द्वौ, इमौ, पुरुषौ, लोके, क्षरः, च, अक्षरः, एव, च ।
क्षरः, सर्वाणि, भूतानि, कूटस्थः, अक्षरः, उच्यते ॥

लोक में क्षर (नाशवान) और अक्षर (नाशरहित) - ये दोनों मनुष्य हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है। ॥१५.१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ ॥१५.१७॥

उत्तमः, पुरुषः, तु, अन्यः, परमात्मा, इति, उदाहृतः ।
यः, लोक-त्रयम्, आविश्य, बिभर्ति, अव्ययः, ईश्वरः ॥

उत्तम मनुष्य तो दूसरा ही है, जिसे परमात्मा कहा गया है, जो तीनो लोकों को अपने मायाशक्ति से अधिष्ठित करके उसका पोषण करता है और जो अधिकारी एवं सबका नियन्ता है। ॥१५.१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ ॥१५.१८॥

यस्मात्, क्षरम्, अतीतः, अहम्, अक्षरात्, अपि, च, उत्तमः।
अतः, अस्मि, लोके, वेदे, च, प्रथितः, पुरुषोत्तमः ॥

क्योंकि मैं क्षर से परे और अक्षर से भी उत्तम हूँ इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से विख्यात हूँ। ॥१५.१८॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ ॥१५.१९ ॥

यः, माम्, एवम् , असम्मूढः, जानाति, पुरुषोत्तमम् ।

सः, सर्व-वित्, भजति, माम्, सर्व-भावेन, भारत ॥

हे भारत! जो मोहहीन मनुष्य मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है वह हर समय मुझे ही सम्पूर्ण भाव से भजन करता है अर्थात वह मेरा अनन्य भक्त हो जाता है। ॥१५.१९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ ॥१५.२०॥

इति, गुह्यतमम् , शास्त्रम्, इदम्, उक्तम्, मया, अनघ ।
एतत्, बुद्ध्वा , बुद्धिमान्, स्यात्, कृतकृत्यः, च, भारत ॥

हे निष्पाप ! इस प्रकार मैंने तुम्हे यह अत्यंत रहस्यमय, गुप्त रखने योग्य शास्त्र सुनाया है। हे भारत! इसे जानकार मनुष्य ज्ञानवान और कृतकृत्य हो जाता है। ॥१५.२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का पुरुषोत्तम योग नामक पन्द्रहवां समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ षोडशोध्यायः दैवासुरसंपद्विभागयोगः

सोलहवाँ अध्याय: दैवासुर सम्पद्वि भाग योग

फलसहित दैवी और आसुरी संपदा का कथन

श्रीभगवानुवाचः

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ ॥१६.१॥

अभयम्, सत्त्व-संशुद्धिः, ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः ।
दानम्, दमः, च, यज्ञः, च, स्वाध्यायः, तपः, आर्जवम् ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ ॥१६.२॥

अहिंसा, सत्यम् , अक्रोधः, त्यागः, शान्तिः, अपैशुनम् ।
दया, भूतेषु, अलोलुप्त्वम्, मार्दवम्, ह्रीः, अचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ॥१६.३॥

तेजः, क्षमाः, धृतिः, शौचम्, अद्रोहः, न, अतिमानिता ।
भवन्ति, सम्पदम्, देवीम्, अभिजातस्य, भारत ॥
श्री भगवान बोले :

हे भारत ! दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए मनुष्य में भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन तथा भगवान के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता, मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चञ्चलता का अभाव, किसी की भी निंदा न करना, सभी प्राणियों में हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव- यह सब धर्म रहते हैं। ॥१६.१-१६.३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ॥१६.४॥

दम्भः, दर्पः, अभिमानः, च, क्रोधः, पारुष्यम् , एव, च ।
अज्ञानम्, च, अभिजातस्य, पार्थ, सम्पदम्, आसुरीम् ॥

हे पार्थ ! आसुरी सम्पदा ले कर पैदा हुए मनुष्यों में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कटु भाषण और अज्ञान ये धर्म रहते हैं। ॥१६.४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ॥१६.५॥

दैवी, सम्पद्, विमोक्षाय, निबन्धाय , आसुरी, मता ।
मा, शुचः, सम्पदम् , दैवीम् , अभिजातः, असि, पाण्डव ॥

अर्जुन! देवी सम्पदा मोक्ष के लिए होती है और आसुरी बंधन के लिए मानी गयी है। तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पदा से संपन्न होकर उत्पन्न हुए हो। ॥१६.५॥

आसुरी संपदा वालों के लक्षण और उनकी अधोगति का कथन

द्वौ भूतसर्गौ लोकऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ में श्रृणु॥ ॥१६.६॥

द्वौ, भूत- सर्गौ, लोके, अस्मिन्, दैवः, आसुरः, एव, च ।
दैवः, विस्तरशः, प्रोक्तः, आसुरम्, पार्थ, मे, शृणु ॥

हे पार्थ ! इस लोक में दैवी और आसुरी दो प्रकार की मानवी सृष्टि है। दैवी सृष्टि का विस्तार से वर्णन हो चुका है, अब तुम मुझसे आसुरी सृष्टि का वर्णन सुनो। ॥१६.६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ॥१६.७॥

प्रवृत्तिम्, च, निवृत्तिम्, च, जनाः, न, विदुः, आसुराः ।
न, शौचम्, न, अपि, च, आचारः, न, सत्यम्, तेषु, विद्यते ॥

आसुरी सम्पदा वाले मनुष्य प्रवृति और निर्वृति को नहीं जानते अर्थात यह नहीं समझते की उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उनमे पवित्रता नहीं होती, आचार नहीं होता, और न ही उनमे सत्य ही रहता है। ॥१६.७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ॥१६.८॥

असत्यम्, अप्रतिष्ठम्, ते, जगत्, आहुः, अनीश्वरम् ।
अपरस्पर-सम्भूतम्, किम्, अन्यत्, काम-हैतुकम् ॥

वे आसुरी सम्पदा वाले संसार को असत्य, व्यवस्था के कारण रहित, ईश्वरहीन, स्त्री-परुष के संयोग से उत्पन्न और कामजनित बताते हैं। इनसे भिन्न इसका कोई और कारण नहीं बताते। ॥१६.८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ॥१६.९॥

एताम्, दृष्टिम्, अवष्टभ्य, नष्ट-आत्मानः, अल्प-बुद्धयः ।
प्रभवन्ति, उग्र-कर्माणः, क्षयाय, जगतः, अहिताः ॥

इस दृष्टि का आशय लेकर वे परलोक के साधनों से पतित, अल्पबुद्धि, अपकर्म करने वाले, धर्म के शत्रु, जगत के विनाश के लिए उत्पन्न होते हैं। ॥१६.९॥

कामममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ ॥१६.१०॥

कामम्, आश्रित्य, दुष्पूरम्, दम्भ-मान-मद-अन्विताः ।
मोहात्, गृहीत्वा, असत्-ग्राहान्, प्रवर्तन्ते, अशुचि-व्रताः ॥

वे मरण पर्यन्त रहने वाली अपरिमित चिंता का आश्रय लिए रहते हैं, दुष्ट विषय होगों को परम पुरषार्थ समझते है तथा यह दुष्ट सुख ही सब कुछ है - ऐसे निश्चयवाले होते हैं। ॥१६.१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ॥१६.११॥

चिन्ताम्, अपरिमेयाम्, च, प्रलय-अन्ताम्, उपाश्रिताः ।
काम-उपभोग-परमाः, एतावत्, इति, निश्चिताः ॥

वे मृत्युपर्यन्त रहने वाली असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले, विषयभोगों के भोगने में तत्पर रहने वाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार मानने वाले होते हैं। ॥१६.११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ ॥१६.१२॥

आशा-पाश-शतैः, बद्धाः, काम-क्रोध-परायणाः ।
ईहन्ते, काम-भोग-अर्थम्, अन्यायेन, अर्थ-सञ्चयान् ॥

सैकड़ों आशा पाशों से जकड़े हुए वे काम क्रोध प्रयत्न मनुष्य कामनाओं के भोग के लिए अन्याय से धनराशियों को पाने का प्रयत्न करते हैं। ॥१६.१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ ॥१६.१३॥

इदम्, अद्य, मया, लब्धम्, इमम्, प्राप्स्ये, मनोरथम् ।
इदम्, अस्ति, इदम्, अपि, मे, भविष्यति, पुनः, धनम् ॥

वह सोचते हैं, आज मैंने यह पा लिया है, इस मनोरथ को भी पा लूँगा, यह तो मेरे पास है अब यह धन भी मेरे पास आ जायेगा। ॥१६.१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ ॥१६.१४॥

असौ, मया, हतः, शत्रुः, हनिष्ये, च, अपरान्, अपि ।
ईश्वरः, अहम्, अहम्, भोगी, सिद्धः, अहम्, बलवान्, सुखी ॥

मैंने इस शत्रु को मार डाला, अब दूसरों को भी मार डालूंगा। मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान हूँ और सुखी हूँ। ॥१६.१४॥

आढयोऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ ॥ १६.१५॥

आढ्यः,अभिजनवान्, अस्मि, कः, अन्यः, अस्ति, सदृशः, मया ।
यदये, दास्यामि, मोदिष्ये, इति, अज्ञान-विमोहिताः ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६.१६॥

अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः, मोह-जाल-समावृताः।
प्रसक्ताः, काम-भोगेषु, पतन्ति, नरके, अशुचौ ॥

मैं धनवान तथा कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यह यज्ञ करूँगा, धन दूंगा और हर्षित होऊंगा। इस प्रकार के अज्ञान से मोहित, चित्त के अनेकों दुष्ट संकल्पों से भ्रांत, मोहपाश से घिरे हुए और भोगों में अत्यंत आसक्त वे लोग अपवित्र नर्क में गिरते हैं। ॥१६.१५-१६.१६॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ ॥१६.१७॥

आत्म-सम्भाविताः, स्तब्धाः, धन-मान-मद-अन्विताः।
यजन्ते, नाम-यज्ञैः, ते, दम्भेन, अविधि-पूर्वकम् ॥

अपने को स्वयं ही पूज्य मानने वाले, नम्रता शून्य और धन के अभिमान तथा उससे उत्पन्न हुए मतिभ्रम से व्याप्त वे लोग नाममात्र के यज्ञों को बिना उचित विधि के करते हैं। ॥१६.१७॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ ॥१६.१८॥

अहङ्कारम्, बलम् , दर्पम्, कामम् , क्रोधम्, च, संश्रिताः ।
माम, अत्य-पर-देहेषु, प्रद्विषन्तः, अभ्यसूयकाः ॥

वे अहंकार बल, दर्प, काम और क्रोध का ही आश्रय लिए रहते हैं, अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझसे अत्यंत द्वेष करते हैं तथा वैदिक मार्ग में स्थित अपने गुरु आदि के गुणों में दोषों का आरोप करते रहते हैं। ॥१६.१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ ॥१६.१९॥

तान्, अहम्, द्विषतः, क्रूरान्, संसारेषु, नर-अधमान् ।
क्षिपामि, अजस्रम्, अशुभान्, आसुरीषु, एव, योनिषु ॥

मुझ से और मेरे साधुजनो से द्वेष करनेवाले उन क्रूर एवं निरंतर अशुभ कर्म करने वाले अधम पुरुषों को मैं (नरक के मार्गरूप) संसार में फैंकता हूँ और आसुरी योनियों में ही उत्पन्न करता हूँ। ॥१६.१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ ॥१६.२०॥

आसुरीम्, योनिम्, आपन्नाः, मूढाः, जन्मनि, जन्मनि ।
माम्, अप्राप्य, एव, कौन्तेय, ततः, यान्ति, अधमाम, गतिम् ॥

हे कुन्तीनन्दन! वे मूर्ख जन्म जन्मांतर में आसुरी योनि को ही प्राप्त होते हुए, मुझे न पाकर फिर अधम गति में ही पड़े रहते हैं। ॥१६.२०॥

शास्त्रविपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्रानुकूल आचरणों के लिए प्रेरणा

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ ॥१६.२१॥

त्रि-विधम्, नरकस्य, इदम्, द्वारम्, नाशनम्, आत्मनः ।
कामः, क्रोधः, तथा, लोभः, तस्मात्, एतत्, त्रयम्, त्यजेत् ॥

काम, क्रोध तथा लोभ- ये तीन प्रकार के नरक के द्वार, आत्मा का नाश करने वाले हैं, अत: इन तीनों को त्याग देना चाहिए। ॥१६.२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ ॥१६.२२॥

एतैः, विमुक्तः, कौन्तेय. तमः, द्वारैः, त्रिभिः, नरः।
आचरति, आत्मनः, श्रेयः, ततः, याति, पराम्, गतिम् ॥

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर स्वेच्छानुसार आचरण करता है वह न तो सिद्धि प्राप्त करता है और न सुख एवं उत्तम गति ही पाता है। ॥१६.२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ ॥१६.२३॥

यः, शास्त्र-विधिम्, उत्सृज्य, वर्तते, कामकारतः।
न, सः, सिद्धिम् , अवाप्नोति, न, सुखम्, न, पराम्, गतिम् ॥

हे कुन्तीनंदन! नरक के द्वारभूत इन तीनो से मुक्त हुआ मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है और उसके द्वारा परमगति को प्राप्त होता है। ॥१६.२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ ॥१६.२४॥

तस्मात्, शास्त्रम्, प्रमाणम् , ते, कार्य-अकार्य-व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा, शास्त्र-विधान-उक्तम्, कर्म, कतुम्, इह, अर्हसि ॥

इसलिए कर्तव्य और अकर्तव्य कर्म की व्यवस्था करने में तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण हैं, अत: तुम्हे शास्त्र विधि द्वारा बताये हुए कर्म को जानकार ही इस लोक में आचरण करना चाहिए। ॥१६.२४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का दैव -असुर सम्पदा विभागयोग नामक सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथ सप्तदशोध्यायः. श्रद्धात्रयविभागयोगः

सत्रहवाँ अध्याय: श्रद्धात्रयविभागयोग

श्रद्धा का और शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का विषय

अर्जुन उवाचः

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ ॥१७.१॥

ये, शास्त्र-विधिम्, उत्सृज्य, यजन्ते, श्रद्धया-अन्विताः ।
तेषाम्, निष्ठा, तु, का, कृष्ण, सत्त्वम्, हो, रज, तमः ॥

अर्जुन बोले :

हे कृष्ण! जो लोग शास्त्र विधि को छोड़ कर श्रद्धा पूर्वक यजन करते हैं उनकी निष्ठा कौन सी होती है? सात्विकी, तामसी या राजसी ? ॥१७.१॥

श्रीभगवानुवाचः

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु॥ ॥१७.२॥

त्रि-विधा, भवति, श्रद्धा, देहिनाम्, सा, स्वभाव-जा ।
सात्त्विकी, राजसी, च, एव, तामसी, च, इति, ताम्, शृणु ॥

श्री भगवान् बोले :

देहधारियों की स्वभाव से उत्पन्न हुई वह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है सात्विकी, राजसी और तामसी; तुम मुझसे उनके विषय में सुनो। ॥१७.२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ॥१७.३॥

सत्त्व-अनुरूपा, सर्वस्य, श्रद्धा, भवति, भारत ।
श्रद्धामयः, अयम्, पुरुषः, यः, यत्-श्रद्धः, सः, एव, सः ॥

हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है, अत: जो मनुष्य जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वैसा ही है। ॥१७.३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये जयन्ते तामसा जनाः॥ ॥१७.४॥

यजन्ते, सात्विकाः, देवान्, यक्ष-रक्षांसि, राजसाः ।
प्रेतान्, भूत-गणान्, च, अन्ये, यजन्ते, तामसाः, जनाः ॥

सात्विक लोग देवताओं का पूजन करते हैं; राजसी प्रवृति के मनुष्य यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं तथा अन्य तामसी लोग प्रेत और भूतों की पूजा करते हैं। ॥१७.४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ॥१७.५॥

अशास्त्र-विहितम्, घोरम्, तप्यन्ते, ये, तपः, जनाः ।
दम्भ-अहङ्कार-संयुक्ताः, काम-राग-बल-अन्विताः ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ॥१७.६॥

कर्षयन्तः, शरीर-स्थम्, भुत-ग्रामम्, अचेतसः ।
माम्, च,एव, अन्तः शरीर-स्थम्,तान्,विद्धि,आसुर-निश्चयान् ॥

दम्भ और अहंकारों से युक्त काम, राग और बल से संपन्न, अपने शरीर में रहने वाले पञ्च भूत अर्थात इस पाञ्चभौतिक शरीर कोऔर अंत:शरीर में सहित मुझको भी कृश करने वाले, जो अविवेकी मनुष्य शास्त्र द्वारा अविहित घोर तप करते हैं उन्हें तुम आसुरी स्वाभाव वाले जानो। ॥१७.५-१७.६॥

आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक-पृथक भेद

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु॥ ॥१७.७॥

आहारः, तु, अपि, सर्वस्य, त्रि-विधः, भवति, प्रियः ।
यज्ञः, तपः, तथा, दानम्, तेषाम्, भेदम्, इमम्, शृणु ॥

सबका आहार भी तीन प्रकार का होता है यज्ञ, तप और दान के भी तीन प्रकार हैं। उनके भेद सुनो। ॥१७.७॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ॥१७.८॥

आयुः-सत्त्व-बल-आरोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः।
रस्याः, स्निग्धाः, स्थिराः, हृद्याः, आहाराः, सात्विक-प्रियाः ॥

जो आयु , धैर्य, बल आरोग्य, सुख और प्रसन्नता की वृद्धि करने वाले स्वादिष्ट, चिकने, शरीर में ठहरने वाले और हृदयग्राही आहार हैं वे सात्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं। ॥१७.८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ॥१७.९॥

कटु-अम्ल-लवण-अति-उष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः।
आहाराः, राजसस्य, इष्टाः, दुःख-शोक-आमय-प्रदाः ॥

बहुत कड़वे, बहुत खट्टे, बहुत खारे, बहुत गर्म, बहुत तीखे, बहुत रूखे, और बहुत दाह पैदा करने वाले तथा दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले पदार्थ राजसी पुरुषों को प्रिय होते हैं। ॥१७.९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ ॥१७.१०॥

यात-यामम्, गत-रसम्, पूति, पर्युषितम् , च, यत् ।
उच्छिष्टम्, अपि, च, अमेध्यम्, भोजनम्, तामस-प्रियम् ॥

जिसे पकाये हुए एक प्रहर बीत गया हो तथा जो नि:सार, दुर्गन्धि युक्त, बासी, जूठा और अपवित्र हो वह भोजन तामसी पुरुषों को प्रिय होता है। ॥१७.१०॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ॥११ ॥

अफल-आकांक्षिभिः, यज्ञः, विधि-दृष्टः, यः, इज्यते ।

यष्टव्यम्, एव, इति, मनः, समाधाय, सः, सात्त्विकः ॥

फल की इच्छा न रखनेवाले मनुष्यों द्वारा यज्ञ करना ही चाहिए, मन में ऐसा निश्चय रखकर जो शास्त्रविधि के अनुसार यज्ञ किया जाता है, वह सात्विक है। ॥१७.११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ ॥१७.१२॥

अभिसन्धाय, तु, फलम्, दम्भार्थम्, अपि, च, एव, यत् ।
इज्यते, भरत-श्रेष्ठ, तम्, यज्ञम्, विद्धि, राजसम् ॥

हे भरतश्रेष्ठ! जिसका फल के उद्देश्य से और दम्भ के लिए भी सृजन किया जाय उस यज्ञ को तुम राजस समझो। ॥१७.१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ ॥१७.१३॥

विधि-हीनम् अ-सृष्ट-अन्नम्, मन्त्र-हीनम्, अ-दक्षिणम् ।
श्रद्धा-विरहितम्, यज्ञम्, तामसम्, परिचक्षते ॥

जो विधिहीन, अन्नदान से रहित, मन्त्रहीन दक्षिणाशून्य और श्रद्धा शून्य होता है उसे शिष्ट मनुष्य तामसी कहते हैं। ॥१७.१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ ॥१७.१४॥

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम्, शौचम्, आर्जवम्।
ब्रह्मचर्यम्, अहिंसा, च, शारीरम्, तपः, उच्यते ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वान का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा - यह शारीरिक तप कहा जाता है। ॥१७.१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ ॥१७.१५॥

अनुद्वेग-करम्, वाक्यम्, सत्यम्, प्रिय-हितम्, च, यत्।
स्वाध्याय-अभ्यसनम्, च, एव, वाङ्मयम्, तपः, उच्यते ॥

जो उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य है और स्वध्याय अभ्यास करना है, वह बाह्य तप कहा जाता है। ॥१७.१५॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ ॥१७.१६॥

मनः-प्रसादः, सौम्यत्वम्, मौनम्, आत्म-विनिग्रहः।
भाव-संशुद्धिः, इति, एतत्, तपः, मानसम्, उच्यते ॥

मन की स्वछता, सौम्यता, मौन, मन का निग्रह और हृदय की सम्यक शुद्धि - यह मानसिक तप कहा जाता है। ॥१७.१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ ॥१७.१७॥

श्रद्धया, परया, तप्तम्, तपः, तत्, त्रि-विधम्, नरैः।
अ-फल-आकांक्षिभिः, युक्तैः, सात्त्विकम्, परिचक्षते ॥

फल की इच्छा से रहित तथा योगयुक्त पुरुषों द्वारा अनंत श्रद्धा से तपे हुए उस तीन प्रकार के तप को सात्विक कहते हैं ॥१७.१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ ॥१७.१८॥

सत्कार-मान-पूजा-अर्थम्, तपः, दम्भेन, च, एव, यत् ।
क्रियते, तत्, इह, प्रोक्तम्, राजसम्, चलम्, अध्रुवम् ॥

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा दम्भपूर्वक किया जाता है वह राजस कहलाता है। वह अनिश्चित, नाशवान फल प्रदान करने वाला तथा अस्थिर होता है। ॥१७.१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ ॥१७.१९॥

मूढ-ग्राहेण, आत्मनः, यत्, पीडया, क्रियते, तपः ।
परस्य, उत्सादन-अर्थम्, वा, तत्, तामसम्, उदाहृतम् ॥

जो तप अत्यंत अविवेकजनित, दुराग्रह से देह और इन्द्रियों के संघात को पीड़ित करने के लिए अथवा दूसरों का नाश करने के लिए किया जाता है वह तामस कहा गया है। ॥१७.१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ ॥१७.२०॥

दातव्यम्, इति, यत्, दानम्, दीयते, अनुपकारिणे ।
देशे, काले, च, पात्रे, च, तत्, दानम्, सात्विकम्, स्मृतम् ॥

दान देना चाहिए अर्थात दान देना धर्म है, इस बुद्धि से जो दान उचित देश और काल में, प्रत्युपकार न करनेवाले पात्र को दिया जाता है वह सात्विक कहा गया है। ॥१७.२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ ॥१७.२१॥

यत् तु प्रत्युपकार-अर्थम् फलम् उद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टम् तत् दानम् राजसम् स्मृतम् ॥

जो दान बहुत क्लेश मानकर प्रत्युपकार के लिए अथवा फल के उद्देश्य से दिया जाता है वह राजस माना गया है। ॥१७.२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ॥१७.२२॥

अ-देश-काले यत् दानम् अपात्रेभ्यः च दीयते ।
अ-सत्कृतम् अव-ज्ञातम् तत् तामसम् उदाहृतम् ॥

जो दान अपवित्र देश और काल में अपात्रों को दिया जाता है तथा जो असत्कार और पात्र के तिरस्कार से युक्त होता है वह तामस कहा गया है। ॥१७.२२॥

ॐ तत्सत् के प्रयोग की व्याख्या

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ ॥१७.२३॥

ॐ, तत् सत् इति निर्देशः ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणाः तेन वेदाः च यज्ञाः च विहिताः पुरा ॥

ॐ तत सत यह ब्रह्म का तीन प्रकार का नाम माना गया है। पूर्व काल में प्रजापति ने इस नाम से ब्राह्मण, वेद और यज्ञों की रचना की थी। ॥१७.२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्तः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ ॥१७.२४॥

तस्मात्, ॐ, इति, उदाहृत्य, यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः।
प्रवर्तन्ते, विधान-उक्ताः, सततम्, ब्रह्म-वादिनाम् ॥

इसलिए ॐ ऐसा उच्चारण करके वेदवादियों की यज्ञ, दान और तप रूप वेदोक्त क्रियाएं निरंतर प्रवृत होती हैं। ॥१७.२४॥

तदित्यनभिसन्दाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्चविविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ ॥१७.२५॥

तत्, इति, अनभिसन्धाय, फलम्, यज्ञ-तपः-क्रियाः ।
दान-क्रियाः, च, विविधाः, क्रियन्ते, मोक्ष-कांक्षिभिः ॥

तत इस शब्द का उच्चारण मोक्ष की कामना करने वाले योगियों द्वारा फल का अनुसन्धान न करते हुए विभिन्न यज्ञ, तपरूप क्रियाएं तथा दानरूप क्रियाएं की जाती हैं। ॥१७.२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्यतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ ॥१७.२६॥

सद्-भावे, साधु-भावे, च, सत्, इति, एतत्, प्रयुज्यते।
प्रशस्ते, कर्मणि, तथा, सत्, शब्दः, पार्थ, युज्यते ॥

हे पार्थ! सत शब्द का प्रयोग वर्तमानता और साधुता के अर्थ में होता है तथा मांगलिक कारणों में भी सत शब्द का प्रयोग किया जाता है। ॥१७.२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्यवाभिधीयते॥ ॥१७.२७॥

यज्ञ, तपसि, दाने, च, स्थितिः, सत्, इति, च, उच्यते ।
कर्म, च, एव, तत्-अर्थीयम्, सत्, इति, एवम्, अभिधीयते ॥

यज्ञ, तप और दान में स्थिति होना 'सत' ऐसा कहा जाता है तथा उन यज्ञादि के अनुकूल कर्म भी सत ही कहलाता है। ॥१७.२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ ॥१७.२८॥

अश्रद्धया, हुतम्, दत्तम् , तपः, तप्तम्, कृतम्, च, यत्।
असत्, इति, उच्यते, पार्थ, न, च, तत्, प्रेत्य, नो, इह ॥

हे पार्थ! अश्रद्धा पूर्वक जो कुछ हवन किया जाता है, जो कुछ दिया जाता है, जो कुछ तप किया जाता है और जो कुछ कोई दूसरा कर्म किया जाता है वह 'असत' कहलाता है। वह न परलोक में और न इस लोक में ही कोई फल देनेवाला होता है। ॥१७.२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्याय : ॥१७॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का श्रद्धात्रय विभागयोग नामक सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥श्रीमदभागवत गीता॥

अथाष्टादशोध्यायः मोक्षसंन्यासयोगः

अट्ठारहवाँ अध्याय: मोक्षसंन्यासयोग

त्याग का विषय

अर्जुन उवाचः

**सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ ॥१८.१॥**

*संन्यासस्य, महाबाहो, तत्त्वम्, इच्छामि, वेदितुम् ।
त्यागस्य, च, हृषीक-ईश, पृथक् , केशि-निषूदन ॥*

अर्जुन बोले :

हे महाबाहो! हे इन्द्रियों के नियंता! हे केशी दैत्य का वध करने वाले! मैं सन्यास और त्याग का तत्व अलग अलग जानना चाहता हूँ। ॥१८.१॥

श्रीभगवानुवाचः

**काम्यानां कर्मणा न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ ॥१८.२॥**

काम्यानाम्, कर्मणाम् , न्यासम्, संन्यासम्, कवयः, विदुः ।

सर्व-कर्म-फल-त्यागम्, प्राहु:, त्यागम्, विचक्षणाः ॥

श्री भगवान बोले :

सूक्ष्मदर्शी मनुष्य काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास मानते हैं तथा विचारशील पुरुषों ने समस्त कर्मो के फल त्याग को त्याग कहा हैं। ॥१८.२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ॥१८.३॥

त्याज्यम्, दोषवत्, इति, एके, कर्म, प्राहु:, मनीषिणः।
यज्ञ-दान-तपः-कर्म, न, त्याज्यम्, इति, च, अपरे ॥

कुछ विचारशील मनुष्य ऐसा कहते हैं की कर्म दोषयुक्त हैं, अत: उनको त्याग देना चाहिए और दुसरे यह कहते हैं की यह दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं है, उन्हें करना ही चाहिए। ॥१८.३॥

निश्चयं श्रृणु में तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ॥१८.४॥

निश्चयम्, श्रृणु, मे, तत्र, त्यागे, भरत-सत्तम।
त्यागः, हि, पुरुष-व्याघ्र, त्रि-विधः, सम्प्रकीर्तितः ॥

हे भरत श्रेष्ठ ! उस त्याग के विषय में तुम मेरा निश्चय सुनो। हे मनुष्यसिंह ! त्याग तीन प्रकार का बताया गया है। ॥१८.४॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ॥१८.५॥

यज्ञ-दान-तपः-कर्म, न, त्याज्यम्, कार्यम्, एव, तत्।

यज्ञः, दानम्, तपः, च, एव, पावनानि, मनीषिणाम् ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं है, बल्कि वह तो परम कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप -ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। ॥१८.५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ॥१८.६॥

एतानि, अपि, तु, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, फलानि, च ।
कर्तव्यानि, इति, मे, पार्थ, निश्चितम्, मतम्, उत्तमम् ॥

इसलिए हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को आसक्ति और फलों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। ॥१८.६॥

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ॥१८.७॥

नियतस्य, तु, संन्यासः, कर्मणः, न, उपपद्यते ।
मोहात्, तस्य, परित्यागः, तामसः, परिकीर्तितः ॥

नित्य कर्म का त्याग करना (मोक्ष की इच्छा रखने वाले को) उचित नहीं है। मोहवश उसका परित्याग करना तामस कहा गया है। ॥१८.७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ॥१८.८॥

दुःखम्, इति, एव, यत्, कर्म, काय-क्लेश-भयात्, त्यजेत् ।
सः, कृत्वा, राजसम्, त्यागम्, न, एव, त्याग-फलम्, लभेत् ।।

जो मनुष्य यह दुःख रूप है इस विचार से शारीरिक क्लेश के भय से कर्म को छोड़ बैठता है वह राजस त्याग करके त्याग के फलों को प्राप्त नहीं करता। ॥१८.८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ॥१८.९॥

कार्यम्, इति, एव, यत्, कर्म, नियतम्, क्रियते, अर्जुन ।
सङ्गम्, त्यक्त्वा, फलम्, च, एव, सः, त्यागः, सात्विकः, मतः ॥

हे अर्जुन! करना चाहिए, ऐसी बुद्धि के साथ और फल का त्याग करके, जो नित्यकर्म अनुष्ठान किया जाता है वह सात्विक त्याग माना गया है। ॥१८.९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ ॥१८.१०॥

न, द्वेष्टि, अकुशलम्, कर्म, कुशले, न, अनुषजते ।
त्यागी, सत्व-समाविष्टः, मेधावी, छिन्न-संशयः ॥

जो मनुष्य, अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता- वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त मनुष्य संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है। ॥१८.१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ॥१८.११॥

न, हि, देह-भृता, शक्यम्, त्यक्तुम्, कर्माणि, अशेषतः।
यः, तु, कर्म-फल-त्यागी, सः, त्यागी, इति, अभिधीयते ॥

देहाभिमानी मनुष्य के द्वारा कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता, अतः जो कर्म के फल का त्याग करने वाला है वही ' त्यागी' कहलाता है। ॥१८.११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित् ॥ ॥१८.१२॥

अनिष्टम्, इष्टम्, मिश्रम्, च, त्रि-विधम्, कर्मणः, फलम् ।
भवति, अत्यागिनाम्, प्रेत्य, न, तु, संन्यासिनाम्, कचित् ॥

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों के कर्मों का तो अच्छा, बुरा और मिला जुला- ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु कर्मफल का त्याग कर देने वाले सन्यासियों को कर्मों का फल किसी काल में भी प्राप्त नहीं होता अर्थात जो सच्चे त्यागी हैं, उन्हें शरीर छोड़ने पर भी यह फल भोगने नहीं पड़ते। ॥१८.१२॥

कर्मों के होने में सांख्यसिद्धांत का कथन

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ ॥१८.१३॥

पञ्च, एतानि, महाबाहो, कारणानि, निबोध, मे।
सांख्ये, कृतान्ते, प्रोक्तानि, सिद्धये, सर्व-कर्मणाम् ॥

हे महाबाहो ! मेरे कथन से तुम कर्मों का अंत कर देने वाले वेदान्त शास्त्र द्वारा कहे हुए इन पांच पदार्थों को समस्त कर्मों की सिद्धि में कारण समझो। ॥१८.१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ ॥१८.१४॥

अधिष्ठानम्, तथा, कर्ता, करणम्, च, पृथक्-विधम्।
विविधाः, च, पृथक्, चेष्टाः, दैवम्, च, एव, अत्र, पञ्च मम् ॥

अधिष्ठान, कर्ता , विभिन्न प्रकार के कारण और अलग अलग प्रकार की अनेकों चेष्टाएँ - चार कर्म कारण तो ये हैं और पांचवां दैव है। ॥१८.१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ ॥१८.१५॥

शरीर-वाक्-मनोभिः, यत्, कर्म, प्रारभते, नरः।
न्याय्यम्, वा, विपरीतम्, वा, पञ्च, एते, तस्य, हेतवः ॥

शरीर, वाणी और मन के द्वारा मनुष्य शास्त्रीय या अशास्त्रीय जिस कर्म को प्रारम्भ करता है उसके ये पांच कारण होते हैं। ॥१८.१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ ॥१८.१६॥

तत्र, एवम्, सति, कर्तारम्, आत्मानम्, केवलम्, तु, यः।
पश्यति, अकृत-बुद्धिवात्, न, सः, पश्यति, दुर्मतिः ॥

परन्तु ऐसा होने पर भी जो दुर्बुद्धि मनुष्य शुद्ध आत्मा को कर्ता समझता है, वह विवेकबुद्धि उत्पन्न न होने के कारण ठीक ठीक नहीं समझता। ॥१८.१६॥

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ ॥१८.१७॥

यस्य, न, अहंकृतः, भावः, बुद्धिः, यस्य, न, लिप्यते ।
हवा, अपि, सः, इमान्, लोकान्, न, हन्ति, न, निबध्यते ॥

जिसे 'मैं करता हूँ' ऐसा भाव नहीं होता और जिसकी बुद्धि ' मैं इस कर्म के फल को भोगूँगा' इस भाव से लिप्त नहीं होती, वह इन समस्त प्राणियों को मारकर भी नहीं मारता और न कर्मबन्धन से ही बँधता है। ॥१८.१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥ ॥१८.१८॥

ज्ञानम् , ज्ञेयम्, परिज्ञाता, त्रि-विधा, कर्म-चोदना।
करणम्, कर्म, कर्ता, इति, त्रि-विधः, कर्म-संग्रहः ॥

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता - ये तीन कर्म की प्रेरणा के भेद हैं और करण, कर्म एवं करता ये तीन क्रिया के आश्रय प्रकार हैं। ॥१८.१८॥

<u>तीनों गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के पृथक-पृथक भेद</u>

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ ॥१८.१९॥

ज्ञानम्, कर्म, च, कर्ता, च, त्रिधा, एव, गुण-भेदतः।
प्रोच्यते, गुणसंख्याने, यथावत्, शृणु, तानि, अपि ॥

सांख्य शास्त्र में गुणों के भेद से ज्ञान , कर्म और कर्ता इन्हे तीन प्रकार ही कहा है। उन्हें तुम शास्त्रानुसार सुनो। ॥१८.१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ ॥१८.२०॥

सर्व-भूतेषु येन एकम् , भावम् अव्ययम् , ईक्षते ।
अविभक्तम् विभक्तेषु तत् , ज्ञानम् , विद्धि सात्त्विकम् ॥

ज्ञानी मनुष्य जिस अन्त:करण परिमाण के द्वारा एक दुसरे से भिन्न समस्त भूतों में एक अविनाशी और विभागशून्य भाव को देखता है, उस ज्ञान को सात्विक समझो।॥१८.२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ ॥१८.२१॥

पृथक्तेन तु यत् ज्ञानम् नाना-भावान् , पृथक-विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तत् ज्ञानम् विद्धि राजसम् ॥

किन्तु जो ज्ञान पृथकता से रहने वाले समस्त भूतों में अलग अलग प्रकार की विभिन्न आत्माओं को जानता है, उसे तुम राजस समझो। ॥१८.२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पंच तत्तामसमुदाहृतम्॥ ॥१८.२४॥

यत् तु कृत्स्नवत् एकस्मिन् कार्य सक्तम् अहैतुकम् ।
अतत्व-अर्थ-वत् अल्पम् च तत् तामसम् उदाहृतम् ॥

परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्ण के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थ से रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है। ॥१८.२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ ॥१८.२३॥

नियतम्, सङ्ग-रहितम्, अ-राग-द्वेषतः, कृतम्।
अ-फल-प्रप्सुना, कर्म, यत्, तत्, सात्विकम्, उच्यते ॥

फल की इच्छा से शून्य मनुष्य द्वारा किया हुआ जो शस्त्र विधि से नित्य, कर्ताव्यभिमान से रहित और बिना राग द्वेष के किया हुआ कर्म है, वह सात्विक कहा जाता है। ॥१८.२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ ॥१८.२४॥

यत्, तु, काम-ईप्सुना, कर्म, स-अहङ्कारेण, वा, पुनः।
क्रियते, बहुल-आयासम्, तत्, राजसम्, उदाहृतम् ॥

फल की इच्छावाले और अहंकारयुक्त मनुष्य द्वारा जो अत्यंत श्रमसाध्य कर्म किया जाता है, वह राजस कहा गया है। ॥१८.२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ ॥१८.२५॥

अनुबन्धम्, क्षयम्, हिंसाम्, अनवेक्ष्य, च, पौरुषम्।
मोहात्, आरभ्यते, कर्म, यत्, तत्, तामसम्, उच्यते ॥

जिस कर्म को पीछे होने वाले अशुभ परिणाम क्षय, हिंसा इत्यादि और अपने सामर्थ को न देख कर मोहवश आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है। ॥१८.२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ ॥१८.२६॥

मुक्त-सङ्गः, अनहं-वादी, धृति-उत्साह-समन्वितः।

सिद्धि-असिद्ध्योः, निर्विकारः, कर्ता, सात्त्विकः, उच्यते ॥

जो फल की इच्छा से रहित, 'मैं करनेवाला हूँ' ऐसा न कहने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कर्म में सफलता होने और न होने में निर्विकार रहने वाला है, वह कर्ता सात्विक कहा जाता है। ॥१८.२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ ॥२७॥

रागी, कर्म-फल-प्रेप्सुः, लुब्धः, हिंसात्मकः, अशुचिः ।
हर्ष-शोक-अन्वितः, कर्ता, राजसः, परिकीर्तितः ॥

जो आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिप्त है। वह राजस कर्ता कहा गया है। ॥१८.२७॥

आयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ ॥१८.२८॥

अयुक्तः, प्राकृतः, स्तब्धः, शठ, नैष्कृतिकः, अलसः।
विषादी, दीर्घ-सूत्री, च, कर्ता, तामसः, उच्यते ॥

जो अयुक्त, शिक्षा से रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरों की जीविका का नाश करने वाला तथा शोक करने वाला, आलसी और दीर्घसूत्री है वह तामस कर्ता कहा जाता है। ॥१८.२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ ॥१८.२९॥

बुद्धेः, भेदम्, धृतेः, च, एव, गुणतः, त्रिविधम्-, श्रृणु ।

प्रोच्यमानम्, अशेषेण, पृथक्त्वेन, धनञ्जय ॥

हे धन्नजय ! अब सत्वादि गुणों की दृष्टि से मेरे द्वारा पूर्णतया और पृथक्तापूर्वक परन्तु विवेकपूर्वक कहे जाते हुए, बुद्धि और धारणा शक्ति के तीन प्रकार के भेद को सुनो। ॥१८.२९॥

प्रवत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ॥१८.३०॥

प्रवृत्तिम्, च, निवृत्तिम्, च, कार्य-अकार्ये, भय-अभये ।
बन्धम्, मोक्षम्, च, या, वेत्ति, बुद्धिः, सा, पार्थ, सात्त्विकी ॥

हे पार्थ ! जो प्रवृति- निर्वृति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बंधन-मोक्ष इन्हे जानती है, वह बुद्धि सात्विक है। ॥१८.३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ॥१८.३१॥

यया, धर्मम्, अधर्मम्, च, कार्यम्, च, अकार्यम्, एव, च ।
अयथावत्, प्रजानाति, बुद्धिः, सा, पार्थ, राजसी ॥

हे पार्थ ! जिसके द्वारा मनुष्य धर्म - अधर्म और कार्य- अकार्य को ठीक ठीक नहीं जानती, वह बुद्धि राजसी है। ॥१८.३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ॥१८.३२॥

अधर्मम्, धर्मम्, इति, या, मन्यते, तमसा, आवृता।
सर्व-अर्थान, विपरीतान्, च, बुद्धिः, सा, पार्थ, तामसी ॥

तमोगुण से व्याप्त जो बुद्धि अधर्म को धर्म तथा सब विषयों को विपरीत ही समझती है, हे पार्थ! वह तामसी है। ॥१८.३२॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ॥३३॥

धृत्या, यया, धारयते, मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः।
योगेन, अव्यभिचारिण्या, धृतिः, सा, पार्थ, सात्त्विकी ॥

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारणा शक्ति से मनुष्य ध्यान योग के द्वारा मन, प्राण और इंद्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धारणा शक्ति सात्त्विकी है। ॥१८.३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ॥१८.३४॥

यया, तु, धर्म-काम-अर्थान्, धृत्या, धारयते, अर्जुन ।
प्रसंगेन, फल-आकांक्षी, धतिः, सा, पार्थ, राजसी ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! जिस धारणा शक्ति के द्वारा मनुष्य कर्त्तव्यादि के अभिमान से फल की इच्छा रखकर धर्म, काम और अर्थ का निश्चय करता है, वह धारणा शक्ति राजसी है। ॥१८.३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ॥१८.३५॥

यया, स्वप्नम्, भयम्, शोकम्, विषादम्, मदम्, एव, च ।
न, विमुञ्चति, दुर्मेधाः, धृतिः, सा, पार्थ, तामसी ॥

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य, जिस धारण शक्ति के द्वारा निद्रा, भय, चिंता और दु:ख को तथा उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता अर्थात धारण किए रहता है, वह धारण शक्ति तामसी है। ॥१८.३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ॥१८.३६॥

सुखम्, तु, इदानीम्, त्रि-विधम्, शृणु, मे, भरत-ऋषभ ।
अभ्यासात्, रमते, यत्र, दुःख-अन्तम्, च, निगच्छति ॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तुम मुझसे तीन प्रकार का सुख श्रवण करो। जिस समाधि सुख में मनुष्य, अधिक परिचय होने से तृप्त होता है तथा सम्पूर्ण दुःख से सर्वथा पार हो जाता है। ॥१८.३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ॥१८.३७॥

यत्, तत्, अग्रे, विषम्, इव, परिणामे, अमृत-उपमम् ।
तत्, सुखम्, सात्विकम्, प्रोक्तम्, आत्म-बुद्धि-प्रसाद-जम् ॥

आत्मकारा बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न हुआ जो सुख पहले विष के समान और परिणाम में अमृत के सदृश्य होता है, वह सात्विक कहा गया है। ॥१८.३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ॥१८.३८॥

विषय-इन्द्रिय-संयोगात्, यत्, तत्, अग्रे, अमृत-उपमम् ।
परिणामे, विषम्, इव, तत्, सुखम्, राजसम्, स्मृतम् ॥

विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाला जो सप्रसिद्ध सुख आरम्भ अमृत के सामान और परिणाम में विषवत होता है, वह राजस कहा गया है। ॥१८.३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ॥१८.३९॥

यत्, अग्रे, च, अनुबन्धे, च, सुखम्, मोहनम्, आत्मनः ।
निद्रा-आलस्य-प्रमाद-उत्थम्, तत्, तामसम्, उदाहृतम् ॥.

जो सुख आरम्भ में और परिणाम में भी चित्त को मोह में डालने वाला तथा निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ होता है, वह तामस कहा गया है। ॥१८.३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ॥१८.४०॥

न, तत्, अस्ति, पृथिव्याम्, वा, दिवि, देवेषु, वा, पुनः ।
सत्त्वम्, प्रकृति-जैः, मुक्तम्, यत्, एभिः, स्यात्, त्रिभिः, गुणैः ॥

पृथ्वी तथा स्वर्गलोक में देवताओं में भी ऐसा कोई प्राणी या प्राणहीन नहीं है, जो इन प्रकृति जनित तीन गुणों से मुक्त हो। ॥१८.४०॥

<u>फल सहित वर्ण धर्म का विषय</u>

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ॥१८.४१॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम्, शूद्राणाम्, च, परन्तप ।
कर्माणि, प्रविभक्तानि, स्वभाव-प्रभवैः, गुणैः ॥

हे परंतप ! स्वभाव से उत्पन्न गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय , वैश्य और शूद्रों के कर्म अलग अलग विभक्त हैं। ॥१८.४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ॥१८.४२॥

शमः, दमः, तपः, शौचम्, क्षान्तिः, आर्जवम्, एव, च ।
ज्ञानम्, विज्ञानम्, आस्तिक्यम् , ब्रह्म-कर्म, स्वभाव-जम् ॥

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता - ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। ॥१८.४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ॥१८.४३॥

शौर्यम्, तेजः, धृतिः, दाक्ष्यम् , युद्धे, च, अपि, अपलायनम्।
दानम्, ईश्वर-भावः, च, क्षात्रम्, कम, स्वभाव-जम् ॥

शूरवीरता, तेज, धृति, कुशलता, युद्ध से न भागना, दान और शासक तत्व - ये क्षत्रिय के स्वाभिविक कर्म हैं। ॥१८.४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ॥१८.४४॥

कृषि-गो-रक्ष्य-वाणिज्यम्, वैश्य-कर्म, स्वभाव-जम् ।
परिचर्या-आत्मकम्, कर्मः,, शूद्रस्य, अपि, स्वभाव-जम् ॥

खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार, ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सेवारूप शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। ॥१८.४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ॥१८.४५॥

स्वे, स्वे, कर्मणि, अभिरतः, संसिद्धिम्, लभते, नरः ।
स्व-कर्म-निरतः, सिद्धिम् , यथा, विन्दति, तत्, शृणु ॥

अपने अपने कारणों में अच्छी तरह लगा हुआ मनुष्य सिद्धि (सम्यक ज्ञान) प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में लगा वह मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है वह सुनो। ॥१८.४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ॥१८.४६॥

यतः, प्रवृत्तिः, भूतानाम्, येन, सर्वम्, इदम्, ततम् ।
स्व-कर्मणा, तम्, अभ्यर्थ्य, सिद्धिम्, विन्दति, मानवः ॥

जिससे आकाश आदि भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिसके द्वारा यह सारा समस्त विश्व व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने कर्मों के पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। ॥१८.४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ॥१८.४७॥

श्रेयान्, स्व-धर्मः, विगुणः, पर-धर्मात्, सु-अनुष्ठितात् ।
स्वभाव-नियतम्, कर्म, कुर्वन्, न, आप्नोति, किल्बिषम् ॥

अच्छी प्रकार आचरण किए हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावजनित कर्म को करने से मनुष्य पाप का भागी नहीं होता। ॥१८.४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ॥१८.४८॥

सहजम्, कर्म, कौन्तेय, सु-दोषम्, अपि, न, त्यजेत् ।
सर्व-आरम्भाः, हि, दोषेण, धूमेन, अग्निः, इव, आवृताः ॥

हे कुन्तीपुत्र! स्वभावित कर्म, दोषपूर्ण होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि अग्नि जैसे धुंए से ढकी रहती है वैसे ही सारे कर्म दोष से आवृत हैं। ॥१८.४८॥

ज्ञाननिष्ठा का विषय

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ ॥१८.४९॥

असक्त-बुद्धिः, सर्वत्र, जित-आत्मा, विगत-स्पृहः।
नैष्कर्म्य-सिद्धिम्, परमाम्, संन्यासेन, अधिगच्छति ॥

सर्वत्र आसक्ति से रहित बुद्धिवाला, अंतःकरण को वश में रखनेवाला और सब प्रकार की इच्छाओं से रहित मनुष्य संन्यास के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार रूपी परम सिद्धि प्राप्त करता है। ॥१८.४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ॥१८.५०॥

सिद्धिम्, प्राप्तः, यथा, ब्रह्म, तथा, आप्नोति, निबोध, में ।
समासेन, एव, कौन्तेय, निष्ठा, ज्ञानस्य, या, परा ॥

हे कुन्तीनन्दन! सिद्धि को प्राप्त हुआ मनुष्य जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है वह संक्षेप से सुनो, जो की ज्ञान की परा निष्ठा है। ॥१८.५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ॥१८.५१॥

बुद्धया, विशुद्धया, युक्तः, धृत्या, आत्मानम्, नियम्य, च ।
शब्दादीन्, विषयान्, त्यक्त्वा, राग-द्वेषौ, व्युदस्य, च ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ॥१८.५२॥

विविक्त-सेवी, लघु-आशी, यत-वाक्-काय-मानसः।
ध्यान-योग-परः, नित्यम्, वैराग्यम्, समुपाश्रितः ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ॥१८.५३॥

अहङ्कारम्, बलम्, दर्पम्, कामम्, क्रोधम्, परिग्रहम् ।
विमुच्य, निर्ममः, शान्तः, ब्रह्म-भूयाय, कल्पते ॥

विशुद्ध बुद्धि से संपन्न सन्यासी धैर्यपूर्वक शरीर और मन इन्द्रियों के संघात का संयम कर, शब्दादि विषयों का परित्याग कर, रागद्वेष को निकाल कर, एकांत सेवी, मिताहारी और वाणी, शरीर एवं मन के संयम वाला होकर सर्वदा ध्यान योग में तत्पर रह वैराग्य का आश्रय लेकर अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग कर समता शून्य और शांत हो ब्रह्मसाक्षात्कार के योग्य हो जाता है। ॥१८.५१-१८.५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ॥१८.५४॥

ब्रह्म-भूतः, प्रसन्न-आत्मा, न, शोचति, न, कांक्षति।
समः, सर्वेषु, भूतेषु, मद्-भक्तिम्, लभते, पराम् ॥

ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर सन्यासी विशुद्ध चित्त हो जाता है, इसलिए वह न तो नष्ट हुई वस्तु के लिए शोक करता है, और न अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है। वह समस्त प्राणियों के प्रति समानरूप से बर्ताव करता है और मेरी पराभाक्ति प्राप्त कर लेता है। ॥१८.५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ॥१८.५५॥

भक्त्या, माम्, अभिजानाति, यावान्, यः, च, अस्मि, तत्वतः ।
ततः, माम्, तत्त्वतः, ज्ञात्वा, विशते, तत्-अनन्तरम् ॥

भक्ति के द्वारा वह मुझे, जितना और जो कुछ मैं हूँ, यथार्थ रूप से जान लेता है और फिर मुझे तत्वत: जान कर मृत्यु के बाद मुझ में ही प्रवेश कर जाता है। ॥१८.५५॥

भक्ति सहित कर्मयोग का विषय

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ॥१८.५६॥

सर्व-कर्माणि, अपि, सदा, कुर्वाणः, मत्-व्यपाश्रयः ।
मत्-प्रसादात्, अवाप्नोति, शाश्वतम्, पदम्, अव्ययम् ॥

मेरा आश्रय लेकर, सर्वदा, सब प्रकार से कर्मो को करता रहनेवाला मनुष्य मेरी कृपा से नित्य, सनातन और अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है। ॥१८.५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ॥१८.५७॥

चेतसा, सर्व-कर्मणि, मयि, संन्यस्य, मत्-परः ।
बुद्धि-योगम्, उपाश्रित्य, मत्-चितः, सततम्, भव ॥

विवेकबुद्धि के द्वारा सारे कर्मों मुझे अर्पण कर[58], मुझ ही को अपना प्रियतम मान, समत्व बुद्धिरूप योग का आश्रय कर, निरंतर मुझ में ही चित्त लगाने वाले हो जाओ। ॥१८.५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्वमहाङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ॥१८.५८॥

मत्-चित्तः, सर्व-दुर्गाणि, मत्-प्रसादात्, तरिष्यसि ।
अथ, चेत्, त्वम्, अहङ्कारात्, न, श्रोष्यसि, विनङ्क्ष्यसि ॥

मुझमें ही चित्त लगाने वाले होकर तुम मेरी कृपा से सारे दुःख साधनों से पार हो जाओगे और यदि अहंकार वश तुम मेरी बात नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे अर्थात परमार्थ से भ्रष्ट हो जाओगे ॥१८.५८॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ॥१८.५९॥

---

[58] कर्मों में कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति का त्याग करके केवल ईश्वरार्पण की भावना से कर्म करो

यत्, अहङ्कारम्, आश्रित्य, न, योत्स्ये, इति, मन्यसे ।
मिथ्या, एषः, व्यवसायः, ते, प्रकृतिः, त्वाम्, नियोक्ष्यति ॥

यदि अहंकार का आश्रय ले कर ऐसा मानते हो की मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो तुम्हारा ऐसा निश्चय व्यर्थ ही है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुम्हे युद्ध में जोड़ ही देगा। ॥१८.५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ॥१८.६०॥

स्वभाव.जेन, कौन्तेय, निबद्धः, स्वेन, कर्मणा ।
कतुम्, न, इच्छसि, यत्, मोहात्, करिष्यसि, अवशः, अपि, तत् ॥

हे कुन्तीपुत्र ! अज्ञान के कारण जिस कर्म को तुम करना नहीं चाहते उसे, अपने स्वाभाविक कर्म से बंधे होने के कारण, तुम इच्छा न होने पर भी करोगे। ॥१८.६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽजुर्न तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया॥ ॥१८.६१॥

ईश्वरः, सर्वभूतानाम्, हृद्-देशे, अर्जुन, तिष्ठति ।
भ्रामयन्, सर्व-भूतानि, यन्त्र-आरूढानि, मायया ॥

हे अर्जुन ! यंत्ररूढ़ के समान समस्त प्राणियों को अपनी ही माया से भ्रमाता हुआ ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के ह्रदय देश में स्थित है। ॥१८.६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ॥१८.६२॥

तम्, एव, शरणम्, गच्छ, सर्व-भावेन, भारत ।

तत्, प्रसादात्, पराम्, शान्तिम्, स्थानम्, प्राप्स्यसि, शाश्वतम् ॥

हे भारत! तुम सम्पूर्ण भाव से, उस शरण रूप ईश्वर का ही आश्रय लो। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति और नित्यपद प्राप्त कर लोगे। ॥१८.६२॥

**इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ॥१८.६३॥**

*इति, ते, ज्ञानम्, आख्यातम्, गुह्यात्, गुह्यतरम्, मयः ।
विमृश्य, एतत्, अशेषेण, यथा, इच्छसि, तथा, कुरु ॥*

इस प्रकार मैंने तुम्हे अत्यंत गोपनीय ज्ञान का उपदेश किया है। इस पर सम्पूर्ण विचार कर जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो। ॥१८.६३॥

**सर्वगुह्यतमं भूतः श्रृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ॥१८.६४॥**

*सर्व-गुह्यतमम्, भूयः, श्रृणु, मे, परमम्, वचः।
इष्टः, असि, मे, दृढम्, इति, ततः, वक्ष्यामि, ते, हितम् ॥*

अब तुम फिर मेरा गोपनीय श्रेष्ठ वचन सुनो! तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो, अत: मैं तुम्हारे हित की बात कहता हूँ। ॥१८.६४॥

**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ॥१८.६५॥**

*मत्-मनाः, भव, मत्-भक्तः, मत्-याजी, माम्, नमस्कुरु।
माम् , एव, एष्यसि, सत्यम्, ते, प्रतिजाने, प्रियः, असि, मे ॥*

तुम मुझ में ही मन रखने वाले, मेरे ही भक्त और मेरा ही भजन करने वाले हो जाओ तथा मुझे ही नमस्कार करो। इससे तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे - यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ क्योंकि तुम मेरे प्यारे हो। ॥१८.६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ॥१८.६६॥

सर्व-धर्मान्, परित्यज्य, माम्, एकम्, शरणम्, व्रज ।
अहम्, त्वा, सर्व-पापेभ्यः, मोक्षयिष्यामि, मा, शुचः ॥

सब धर्मों को त्यागकर एक मेरी ही शरण में आओ। मैं तुम्हे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा शोक मत करो। ॥१८.६६॥

श्रीगीताजी का माहात्म्य

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ॥१८.६७॥

इदन्, ते, न, अपस्काय, न, अभक्ताय, कदाचन ।
न, च, अशुश्रुषत्रे वाच्यम्, न, च, माम्, यः, अभ्यसूयति ॥

जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, सेवापरायण न हो और मुझसे द्वेष रखता हो उस मनुष्य से तुम्हे यह शास्त्र कभी नहीं कहना चाहिए। ॥१८.६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ॥१८.६८॥

यः, इमम्, परमम्, गुह्यम्, मत्-भक्तेषु, अभिधास्यति ।
भक्तिम्, मयि, पराम्, कृत्वा, माम्, एव, एष्यति, असंशयः॥

जो मनुष्य इस परम रहस्यमयी ज्ञान को मेरे भक्तों में ग्रन्थत: और अर्थत: स्थापित करेगा वह मेरे प्रति श्रेष्ठ भक्ति करके निःसंदेह मुझे ही प्राप्त होगा।॥१८.६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ॥१८.६९॥

न, च, तस्मात्, मनुष्येषु, कश्चित्, मे, प्रिय-कृत्-तमः ।
भविता, न, च, मे तस्मात्, अन्यः, प्रिय-तरः, भुवि ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय करने वाला मनुष्यों में न तो कोई है, न हुआ है, और न होगा। संसार में उससे बढ़कर प्रिय मुझे कोई नहीं है तथा न तो कोई हुआ है और न ही होगा । ॥१८.६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ॥१८.७०॥

अध्येष्यते, च, यः, इमम्, धर्यम्, संवाद, आवयोः।
ज्ञान-यज्ञेन, तेन, अहम्, इष्टः, स्याम्, इति, मे, मतिः ॥

जो मनुष्य हमारे इस धर्ममय संवाद का अध्यन्न करेगा उसके द्वारा मेरा ज्ञान यज्ञ से पूजन होगा - ऐसा मेरा विचार है। ॥१८.७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ॥१८.७१॥

श्रद्धावान्, अनसूयः, च, श्रृणुयात्, अपि, यः, नरः ।

सः, अपि, मुक्तः, शुभान्, लोकान्, प्राप्नुयात्, पुण्य-कर्मणाम् ॥

जो श्रद्धावान और ईर्षाहीन मनुष्य इस गीता शास्त्र को सुनता ही है वह पापों से मुक्त होकर पुण्य कर्म करने वालों के उच्च लोकों को प्राप्त होता है। ॥१८.७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ ॥१८.७२॥

कच्चित्, एतत्, श्रुतम्, पार्थ, त्वया, एकाग्रेण, चेतसा ।
कच्चित्, अज्ञान-सम्मोहः, प्रनष्टः, ते, धनंजय ॥

हे पार्थ ! क्या मेरे कहे हुए इस गीता शास्त्र को तुमने एकाग्रचित्त से सुना? धनञ्जय! क्या तुम्हारा अज्ञानरहित मोह नष्ट हो गया ? ॥१८.७२॥

अर्जुन उवाचः

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वप्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ॥१८.७३॥

नष्टः, मोहः, स्मृतिः, लब्धा, त्वत्, प्रसादात्, मया, अच्युत ।
स्थितः, अस्मि, गत-सन्देहः, करिष्ये, वचनम्, तव ॥

अर्जुन बोले :

हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और आत्मज्ञान प्राप्त हो गया। अब मैं निस्संदेह होकर आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार हूँ और जबतक जीवित रहूँगा आपके वचनो का पालन करूँगा। ॥१८.७३॥

संजय उवाचः

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ॥१८.७४॥

इति, अहम्, वासुदेवस्य, पार्थस्य, च, महात्मनः ।
संवादम्, इमम्, अश्रौषम्, अद्भुतम्, रोम-हर्षणम् ॥

संजय बोले :

इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमांचकारी संवाद सुना। ॥१८.७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ॥१८.७५॥

व्यास-प्रसादात्, श्रुतवान्, एतत्, गुह्यम्, अहम्, परम् ।
योगम्, योगेश्वरात्, कृष्णात्, साक्षात्, कथयतः, स्वयम् ॥

अर्जुन को स्वयं अपने परमेश्वर रूप से उपदेश करने वाले योगेश्वर श्री कृष्ण से, मैंने यह अत्यंत गोपनीय योग भगवान वेद-व्यास की कृपा से सुना है। ॥१८.७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ॥१८.७६॥

राजन्, संस्मृत्य, संस्मृतम, संवादम्, इमम्, अद्भुतम् ।
केशव-अर्जुनयोः, पुण्यम्, हृष्यामि, च, मुहुः, मुहुः ॥

हे राजन! श्री कृष्ण और अर्जुन के इस अति अद्भुत एवं पवित्र संवाद का स्मरण कर करके मैं बार बार हर्षित हो रहा हूँ। ॥१८.७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ॥१८.७७॥

तत्, च, संस्मृत्य, संस्मृत्य, रूपम्, अति-अद्भुतम्, हरेः।
विस्मयः, मे, महान्, राजन्, हृष्यामि,, च, पुनः-पुनः ॥

हे राजन्! भगवान् श्री कृष्ण की अत्यंत अद्भुत स्वरुप का स्मरण करके मुझे बड़ा विस्मय होता है और मैं बार बार रोमांचित, हर्षित हो जाता हूँ। ॥१८.७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ॥१८.७८॥

यत्र, योग-ईश्वरः, कृष्णः, यत्र, पार्थः, धनुर्धरः ।
तत्र, श्रीः, विजयः, भूतिः, ध्रुवा, नीतिः, मतिः, मम ।।

हे राजन! जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ गांडीव धनुषधारीअर्जुन हैं वहां पर अवश्य श्री, विजय, ऐश्वर्य और अटल न्याय है – ऐसा मेरा मत है। ॥१८.७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८ ॥

ॐ तत सत।

इस प्रकार भागवतगीता रुपी उपनिषद में ब्रह्मविद्या के अंतर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद का मोक्ष सन्यास योग नामक अट्ठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ इति श्रीमद्भागवत गीता सम्पूर्ण॥

हरि ॐ तत्सत; हरि ॐ तत्सत; हरि ॐ तत्सत

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

॥अथ गीतामाहात्म्यम्॥

श्री गीता जी का महातम्य

श्री गणेशाय नमः ॥
श्रीराधारमणाय नमः ॥

धरोवाचः

भगवन्परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी
प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ॥१॥

श्री पृथ्वी देवी ने पूछाः

हे भगवन ! हे परमेश्वर ! हे प्रभो ! प्रारब्धकर्म को भोगते हुए मनुष्य को एकनिष्ठ भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है?

श्री विष्णुरुवाचः

प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥२॥

श्री विष्णु भगवान बोलेः

प्रारब्ध को भोगता हुआ जो मनुष्य सदा श्रीगीता के अभ्यास में आसक्त हो वही इस लोक में मुक्त और सुखी होता है तथा कर्म में लेपायमान नहीं होता।

महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत् ।

क्वचित्स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत् ॥३॥

जिस प्रकार कमल के पत्ते को जल स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार जो मनुष्य श्रीगीताजी का ध्यान करता है उसे महापापादि पाप कभी स्पर्श नहीं करते।

गीतायाः पुस्तकं यत्र पाठः प्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ॥४॥

जहाँ श्रीगीता की पुस्तक होती है और जहाँ श्रीगीता का पाठ होता है वहाँ प्रयागादि सभी तीर्थ निवास करते हैं।

सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ।
गोपालबालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः ॥
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥५॥

जहाँ श्रीगीता प्रवर्तमान है वहाँ सभी देवों, ऋषियों, योगियों, नागों और गोपालबाल श्रीकृष्ण भी नारद, ध्रुव आदि सभी पार्षदों सहित जल्दी ही सहायक होते हैं ।

पठनं पाठनं श्रुतम् ।
तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ॥६॥

जहाँ श्री गीता का विचार, पठन, पाठन तथा श्रवण होता है वहाँ हे पृथ्वी ! मैं अवश्य निवास करता हूँ।

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान्पालयाम्यहंम् ॥७॥

मैं श्री गीताजी के आश्रय में रहता हूँ, श्री गीताजी मेरा उत्तम घर है और श्री गीताजी के ज्ञान का आश्रय करके मैं तीनों लोकों का पालन करता हूँ।

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्धमात्राक्षरा नित्या स्वनिर्वाच्यपदात्मिका ॥८॥

श्रीगीता अति अवर्णनीय पदों वाली, अविनाशी, अर्धमात्रा तथा अक्षरस्वरूप, नित्य, ब्रह्मरूपिणी और परम श्रेष्ठ मेरी विद्या है, इसमें सन्देह नहीं है।

चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥९॥

वह श्रीगीता चिदानन्द श्रीकृष्ण ने अपने मुख से अर्जुन को कही हुई तथा तीनों वेदस्वरूप, परमानन्दस्वरूप तथा तत्त्वरूप पदार्थ के ज्ञान से युक्त है।

योऽष्टादशजपो नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥१०॥

जो मनुष्य स्थिर मन वाला होकर नित्य श्री गीता के अट्ठारह अध्यायों का जप-पाठ करता है वह ज्ञानस्थ सिद्धि को प्राप्त होता है और फिर परम पद को पाता है।

पाठेऽसमर्थः संपूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥११॥

संपूर्ण पाठ करने में असमर्थ हो तो आधा पाठ करे, तो भी गाय के दान से होने वाले पुण्य को प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं है।

त्रिभागं पठमानस्तु गंगास्नानफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥१२॥

तीसरे भाग का पाठ करे तो गंगास्नान का फल प्राप्त करता है और छठवें भाग का पाठ करे तो सोमयाग का फल पाता है।

एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रूद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम ॥१३॥

जो मनुष्य भक्तियुक्त होकर नित्य एक अध्याय का भी पाठ करता है, वह रुद्रलोक को प्राप्त होता है और वहाँ शिवजी का गण बनकर चिरकाल तक निवास करता है।

अध्याये श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः ।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे ॥१४॥

हे पृथ्वी ! जो मनुष्य नित्य एक अध्याय एक श्लोक अथवा श्लोक के एक चरण का पाठ करता है वह मन्वंतर तक मनुष्यता को प्राप्त करता है।

गीताया श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयम् ।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ॥१५॥

चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ।
गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥१६॥

जो मनुष्य गीता के दस, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक या आधे श्लोक का पाठ करता है वह अवश्य दस हजार वर्ष तक चन्द्रलोक को प्राप्त होता है। गीता के पाठ में लगे हुए मनुष्य की अगर मृत्यु होती है तो वह (पशु आदि की अधम योनियों में न जाकर) पुनः मनुष्य जन्म पाता है।

गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ।
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥१७॥

(और वहाँ) गीता का पुनः अभ्यास करके उत्तम मुक्ति को पाता है । 'गीता' ऐसे उच्चार के साथ जो मरता है वह सदगति को पाता है ।

गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥१८॥

गीता का अर्थ तत्पर सुनने में तत्पर बना हुआ मनुष्य महापापी हो तो भी वह वैकुण्ठ को प्राप्त होता है और विष्णु के साथ आनन्द करता है।

गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहांते परमं पदम् ॥१९॥

अनेक कर्म करके नित्य श्री गीता के अर्थ का जो विचार करता है उसे जीवन्मुक्त जानो । मृत्यु के बाद वह परम पद को पाता है।

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम् ॥२०॥

गीता का आश्रय करके जनक आदि कई राजा पाप रहित होकर लोक में यशस्वी बने हैं और परम पद को प्राप्त हुए हैं।

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥२१॥

श्री गीताजी का पाठ करके जो माहात्म्य का पाठ नहीं करता है उसका पाठ निष्फल होता है और ऐसे पाठ को श्रमरूप कहा है।

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः ।
स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥२२॥

इस माहात्म्यसहित श्रीगीता का जो अभ्यास करता है वह उसका फल पाता है और दुर्लभ गति को प्राप्त होता है।

सूत उवाचः

माहात्म्यमेतद् गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥२३॥

सूत जी बोलेः

गीता का यह सनातन माहात्म्य मैंने कहा । गीता पाठ के अन्त में जो इसका पाठ करता है वह उपर्युक्त फल प्राप्त करता है।

इति श्रीवाराहपुराणे श्रीमद् गीतामाहात्म्यं संपूर्णम् ।

इति श्रीवाराहपुराण वर्णित श्रीमद् गीता माहात्म्य संपूर्ण ॥

भक्तवांछा कल्पतरु अनंतकोटि ब्रह्माण्डनायक परापरब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण भगवान् की जय

॥श्री हरिः शरणम्॥

॥ॐ श्री परमात्मने नमः॥

श्री गीता जी की आरती

ॐ जय भगवत् गीते, मैया जय भगवत् गीते
हरि हिय कमल विहारिणि सुन्दर सुपुनीते। ॐ जय भगवत् गीते।

कर्म सुकर्म प्रकाशिनि कामासक्तिहरा,
तत्वज्ञान विकाशिनि विद्या ब्रह्मपरा। ॐ जय भगवत् गीते।

निश्चल भक्ति विधायिनी निर्मल मलहारी,
शरण रहस्य प्रदायिनी सब विधि सुखकारी। ॐ जय भगवत् गीते।

राग-द्वेष विदारिणि कारिणि मोद सदा,
भव-भय हारिणि तारिणि परमानंदप्रदा। ॐ जय भगवत् गीते।

आसुर भाव विनाशिनि, नाश्निनी तम रजनी,
दैवी सद्गुण दायिनि हरि रसिका सजनी। ॐ जय भगवत् गीते।

समता त्याग सिखावनि हरिमुख की बानी,
सकल शास्त्र की स्वामिनी श्रुतियों की रानी। ॐ जय भगवत् गीते।

दया सुधा बरसावनि मातु कृपा कीजै,
हरि पद प्रेम दान कर अपने कर लीजै। ॐ जय भगवत् गीते।

मनीष त्यागी
श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

पावन २४ अवतार स्मरण

जय जय मीन वराह कमठ नरहरि बलि-बावन ।
परसुराम रघुबीर कृष्ण कीरति जग पावन ॥

बुद्ध कल्कि व्यास पृथु हरि हंस मन्वंतर ।
जग्य ऋषभ हयग्रीव धुरुव बरदैन धन्वन्तर ॥

बद्रीपति दत्त कपिलदेव सनकादिक करुना करौ ।
चौबीस रूप लीला रुचिर (श्री)अग्रदास उर पदधरौ ॥

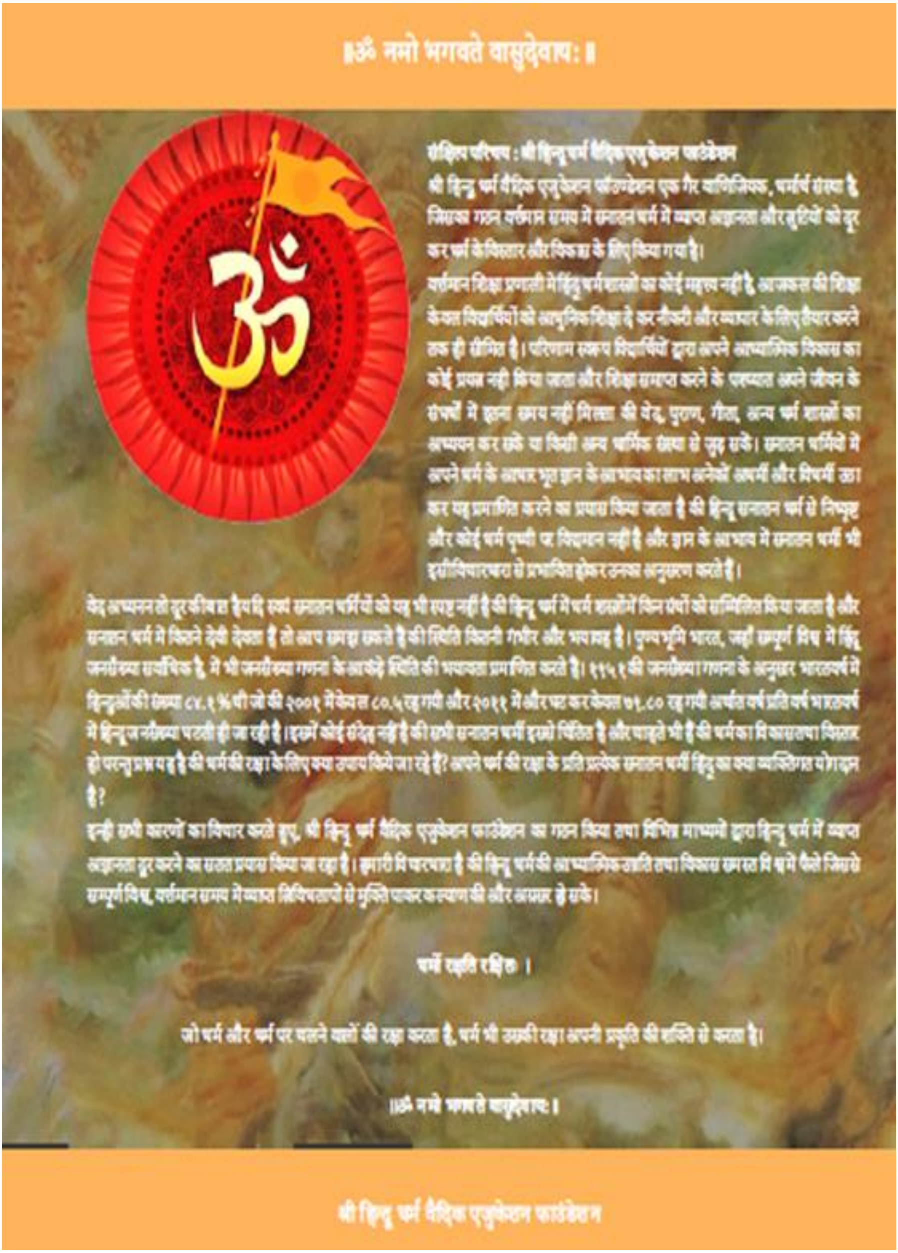

॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय:॥

संक्षिप्त परिचय : श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फॉउण्डेशन एक गैर वाणिज्यिक, धर्मार्थ संस्था है, जिसका गठन वर्तमान समय मे सनातन धर्म मे व्याप्त अज्ञानता और त्रुटियों को दूर कर धर्म के विस्तार और विकास के लिए किया गया है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली मे हिंदू धर्म शास्त्रों का कोई महत्त्व नहीं है, आजकल की शिक्षा केवल विद्यार्थियों को आधुनिक शिक्षा दे कर नौकरी और व्यापार के लिए तैयार करने तक ही सीमित है। परिणाम स्वरूप विद्यार्थियों द्वारा अपने आध्यात्मिक विकास का कोई प्रयास नहीं किया जाता और शिक्षा समाप्त करने के पश्चात अपने जीवन के संघर्षों मे इतना समय नहीं मिलता की वेद, पुराण, गीता, अन्य धर्म शास्त्रों का अध्ययन कर सके या किसी अन्य धार्मिक संस्था से जुड़ सके। सनातन धर्मियों मे अपने धर्म के आधार भूत ज्ञान के अभाव का लाभ अनेकों अधर्मी और विधर्मी उठा कर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है की हिन्दू सनातन धर्म से निकृष्ट और कोई धर्म पृथ्वी पर विद्यमान नहीं है और ज्ञान के अभाव मे सनातन धर्मी भी दुर्विचारधारा से प्रभावित होकर उनका अनुसरण करते हैं।

वेद अध्ययन तो दूर की बात है यदि स्वयं सनातन धर्मियों को यह भी स्पष्ट नहीं है की हिन्दू धर्म मे धर्म शास्त्रों में किन ग्रंथों को सम्मिलित किया जाता है और सनातन धर्म मे कितने देवी देवता हैं तो आप समझ सकते है की स्थिति कितनी गंभीर और भयावह है। पुण्य भूमि भारत, जहाँ सम्पूर्ण विश्व मे हिंदू जनसंख्या सर्वाधिक है, मे भी जनसंख्या गणना के आंकड़े स्थिति की भयावहता प्रमाणित करते है। १९५१ की जनसंख्या गणना के अनुसार भारतवर्ष मे हिन्दुओं की संख्या ८४.१% थी जो की २००१ मे केवल ८०.५ रह गयी और २०११ मे और घट कर केवल ७९.८० रह गयी अर्थात वर्ष प्रति वर्ष भारतवर्ष मे हिन्दू जनसंख्या घटती ही जा रही है। इसमें कोई संदेह नहीं है की सभी सनातन धर्मी इससे चिंतित है और चाहते भी है की धर्म का विकास तथा विस्तार हो परन्तु प्रश्न यह है की धर्म की रक्षा के लिए क्या उपाय किये जा रहे हैं? अपने धर्म की रक्षा के प्रति प्रत्येक सनातन धर्मी हिंदू का क्या व्यक्तिगत योगदान है?

इन्ही सभी कारणों का विचार करते हुए, श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन का गठन किया तथा विभिन्न माध्यमों द्वारा हिन्दू धर्म में व्याप्त अज्ञानता दूर करने का सतत प्रयास किया जा रहा है। हमारी विचारधारा है की हिन्दू धर्म की आध्यात्मिक ऊर्जा तथा विकास समस्त विश्व मे फैले जिससे सम्पूर्ण विश्व, वर्तमान समय मे व्याप्त विभिषिकाओं से मुक्ति पाकर कल्याण की ओर अग्रसर हो सके।

धर्मो रक्षति रक्षितः ।

जो धर्म और धर्म पर चलने वालों की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा अपनी प्रकृति की शक्ति से करता है।

॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय:।

श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन